वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००
विवेक ज्योति
वर्ष ४७ अंक ३
मार्च २००९
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २००९

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४७
अंक ३

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर; आजीवन २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर – २३,०००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, फोर्ट,
बेलगाम - ५९००१६
फोन - ०८३१-२४३२७८९

अति निर्धनों के बीच अन्न आदि का वितरण

कुछ सप्ताह पूर्व बी.बी.सी. की एक रिपोर्ट में सूचित किया गया कि भारत के १२ राज्यों में अन्न की समस्या भयावह रूप ले चुकी है। सम्पूर्ण विश्व में खाद्यान्नों की मूल्य-वृद्धि के कारण बहुत से निर्धन परिवारों की अन्न खरीदने की क्षमता में कमी आयी, जिसके फलस्वरूप परिस्थिति और भी बिगड़ गयी है। विशेषज्ञों का कहना है कि खाद्यान्नों की मूल्य-वृद्धि की तुलना में लोगों की आय में उतनी वृद्धि न होने के कारण, और भी अनेक परिवारों को अन्न-संकट का सामना करना पड़ रहा है।

इसे ध्यान में रखकर हमने एक नये सेवा-कार्य की योजना बनायी है – अत्यन्त निर्धन परिवारों में अन्न तथा दूसरे कच्चे खाद्य पदार्थों का वितरण। श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द निर्धनों तथा पीड़ितों के प्रति परम संवेदना का भाव रखते थे। यथासाध्य कुछ निर्धन परिवारों की सहायता के लिये हमने यह 'द्रव्य-यज्ञ' योजना शुरू की है। इस योजना के अन्तर्गत प्रतिमाह ७५ निर्धन परिवारों को चॉवल, दाल, तेल आदि उपलब्ध कराया जायेगा। प्रत्येक परिवार को सहारा देने के लिये लगभग ४ हजार रुपयों का खर्च आता है। धन राशि की उपलब्धता के अनुसार हम अधिक-से-अधिक निर्धन परिवारों तक पहुँचना चाहते हैं।

योजना का क्रियान्वयन जनवरी माह से प्रारम्भ हो चुका है। इस सेवा-कार्य में आपके योगदान का भी स्वागत होगा।

स्वामी राघवेशानन्द
सचिव

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४७ **मार्च २००९** **अंक ३**

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रियम् ।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ।।६४।।

अन्वय – शत्रु-संहारम् अकृत्वा, अखिल-भू-श्रियम् अगत्वा (च), 'अहम् राजा' इति शब्दात् (एव) राजा भवितुम् अर्हति न ।

अर्थ – शत्रुओं का संहार किये बिना तथा सम्पूर्ण पृथ्वी की सम्पदा को प्राप्त किये बिना – 'मैं राजा हूँ' – कहने मात्र से कोई राजा नहीं बन सकता।

आप्तोक्तिं खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतिं
निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दैस्तु निर्गच्छति ।
तद्वद्-ब्रह्मविदोपदेश-मनन-ध्यानादिभिर्लभ्यते
मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः।।६५।।

अन्वय – निक्षेपः (लाभाय) आप्तोक्तिं, खननं तथा उपरि-शिलादि-उत्कर्षणं, स्वीकृतिं समपेक्षते, तु शब्दैः बहिः न हि निर्गच्छति । तद्वत् मायाकार्य-तिरोहितं अमलम्-स्वम्-तत्त्वम् ब्रह्मविदा-उपदेश-मनन-ध्यान-आदिभिः लभ्यते, दुर्युक्तिभिः न ।

अर्थ – जैसे धरती में गड़ा हुआ धन उसे पुकारने मात्र से नहीं मिलता, अपितु उसे प्राप्त करने के लिये ज्ञानी व्यक्ति से सुनने, मिट्टी को खनने, ऊपर के पत्थर आदि को हटाने और धन को निकालने की आवश्यकता होती है; वैसे ही अपने (अहंकार आदि) माया से मुक्त विशुद्ध आत्म-स्वरूप का बोध भी केवल तर्क-वितर्क से नहीं, अपितु ब्रह्मज्ञानियों द्वारा प्रदत्त उपदेश तथा उसके मनन, ध्यान आदि से ही प्राप्त होता है।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये ।
स्वैरेव यत्नः कर्तव्यो रोगादाविव पण्डितैः।।६६।।

अन्वय – तस्मात् पण्डितैः सर्व-प्रयत्नेन भव-बन्ध-विमुक्तये रोगादौ इव स्वैः एव यत्नः कर्तव्यः ।

अर्थ – अतएव, जैसे रोग आदि हो जाने पर व्यक्ति स्वयं ही उसे दूर करने की चेष्टा करता है, वैसे ही विवेकवान व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह भव-बन्धन से मुक्त होने के लिये स्वयं ही सर्व प्रकार से प्रयत्न करे।

यस्त्वयाद्य कृतः प्रश्नो वरीयाञ्छास्त्रविन्मतः ।
सूत्रप्रायो निगूढार्थो ज्ञातव्यश्च मुमुक्षुभिः।।६७।।

अन्वय – अद्य यः प्रश्नः त्वया कृतः (सः) वरीयान् शास्त्रवित्-मतः, सूत्रप्रायः निगूढार्थः च मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यः ।

अर्थ – आज तुमने जो प्रश्न किया (द्र. श्लोक ४९); वह उत्तम, शास्त्रज्ञों द्वारा समर्थित, संक्षिप्त, गम्भीर तात्पर्य से युक्त और मुमुक्षुओं द्वारा जानने के योग्य है।

शृणुष्वावहितो विद्वन्यन्मया समुदीर्यते ।
तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे ।।६८।।

अन्वय – विद्वन्, मया यत् समुदीर्यते तत् अवहितः शृणुष्व, एतत्-श्रवणात् सद्यः भव-बन्धात् विमोक्ष्यसे ।

अर्थ – हे विद्वान् शिष्य, अब मेरे द्वारा जो कुछ कहा जा रहा है, उसे ध्यान देकर सुनो; (क्योंकि) इसे सुनकर तुम तत्काल भव-बन्धन से मुक्त हो जाओगे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामीजी का भारत-भ्रमण

(गुरुदेव के देहत्याग के बाद स्वामीजी वर्षों तक देश-दर्शन - उत्तर-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए कन्याकुमारी पहुँचे -

(यमन–कहरवा)

कैसे जागे देश हमारा, उन्नत हो जीवन जन-गण का।
एक लक्ष्य लेकर अन्तर में, करते भ्रमण सतत भारत का।।

करते हुए साधना-चिन्तन, और शास्त्र का भी अभ्यास,
दर्शन पूण्यभूमि का करते, कहीं कहीं पर अल्प प्रवास।
स्वामीजी पहुँचे दक्षिण में, चलते चलते बिन-आयास,
मानो निकला हो बिछड़ा सुत,
दर्शन को निज प्रिय जननी का।।

हैं विराजती देवी कन्या, अन्तरीप तट के मन्दिर में,
दर्शन करने को जा पहुँचे, उमड़ रही श्रद्धा अन्तर में।
चरणों में हो प्रणत, प्रार्थना की, जल भर आए नयनों में
भावों में अभिभूत हो गए,
भूल गए सुध निज तन-मन का।।

देखा जलधि गर्भ में उभरी,
एक शिला नीरव जलहीन,
पहुँचे वहाँ तैरते जल में,
बैठ हुए चिन्तन में लीन।
सम्मुख ही थे मातृभूमि के,
पग पखारते सागर तीन,
सोच रहे हैं साधन कोई,
देशवासियों की उन्नति का।।

बोध हुआ जन-जन में बसकर,
ईश्वर ही चलते-फिरते हैं,
क्यों उनको बिसराकर हम,
बस मन्दिर में पूजा करते हैं !
चर्चा होती ब्रह्मतत्त्व की,
नर-ईश्वर भूखों में मरते हैं,
पाया अभिनव मार्ग वहीं पर,
सेवा नर में नारायण का।।

– विदेह

सच्चे धर्म का स्वरूप

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

धर्म की परिभाषा और सच्चा धर्म

धर्म वह वस्तु है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है।[१]

हमारे मन का एक भाव कहता है – करो; और उसके पीछे एक दूसरा स्वर उठता है, जो कहता है – मत करो। हमारे मन में धारणाओं का एक समूह है, जो सर्वदा इन्द्रियों के द्वारा बाहर जाने की चेष्टा करता रहता है; और उनके पीछे चाहे कितना ही क्षीण क्यों न हो, एक स्वर कहता रहता है – बाहर मत जाना। इन दो वृत्तियों के संस्कृत में सुन्दर नाम हैं – प्रवृत्ति और निवृत्ति।... इस 'मत करना' से ही धर्म और आध्यात्मिकता आरम्भ होती है। जहाँ यह 'मत करना' (निवृत्ति) नहीं है, वहाँ जानना कि धर्म आरम्भ नहीं हुआ।[२]

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त परमात्मा है। बाह्य तथा आन्तरिक प्रकृतियों को वशीभूत करके, आत्मा के इस ईश्वरत्व को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मन:संयम अथवा ज्ञान – इनमें से एक, कुछ या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मतवाद, पूजा-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्योरे मात्र हैं।[३]

धर्म का अर्थ है, उस ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है।[४] शास्त्र-ग्रन्थों में धर्म नहीं होता, अथवा सिद्धान्तों, मतवादों, चर्चाओं तथा तार्किक उक्तियों में भी धर्म प्राप्ति नहीं होती, धर्म तो स्वयं साक्षात्कार करने की वस्तु है। तुम्हें ऋषि होना होगा। ऐ मेरे मित्रो, जब तक तुम ऋषि नहीं बनोगे, जब तक तुम्हारा आध्यात्मिक सत्य के साथ साक्षात् नहीं होगा, निश्चय है कि तब तक तुम्हारा धार्मिक जीवन आरम्भ नहीं हुआ। जब तक तुम्हारी यह अतिचेतन (समाधि) अवस्था शुरू नहीं होती, तब तक धर्म केवल कहने ही की बात है, तब तक यह केवल धर्म-प्राप्ति के लिये तैयार होना ही है। तुम केवल दूसरों से सुनी सुनायी बातों को दुहराते-तिहराते भर हो।[५]

सबसे बढ़कर एक अन्य बात भी हमें याद रखनी चाहिये; खेद है कि इसे हम प्राय: भूल जाते हैं। वह बात यह है कि भारत में धर्म का तात्पर्य 'प्रत्यक्षानुभूति' है, इससे जरा भी कम नहीं। हमें ऐसा धर्म कोई नहीं सिखा सकता कि "यदि तुम इस मत को मान लो, तो तुम्हारा उद्धार हो जायेगा"; क्योंकि ऐसी बात पर हम विश्वास करते ही नहीं। तुम अपने को जैसा बनाओगे, अपने को जैसे साँचे में ढालोगे, वैसे ही बनोगे। तुम जो भी हो, जैसे हो, वह ईश्वर की कृपा और अपनी चेष्टा से बने हो। किसी मत में विश्वास मात्र से तुम्हारा कोई विशेष उपकार नहीं होगा। 'अनुभूति' की यह महती शक्तिमयी वाणी भारत के ही आध्यात्मिक गगन-मण्डल से आविर्भूत हुई है और केवल हमारे ही शास्त्रों ने बारम्बार कहा है कि 'ईश्वर के दर्शन' करने होंगे। नि:सन्देह यह बात बड़े साहस की है, पर इसका लेशमात्र भी मिथ्या नहीं है, यह अक्षरश: सत्य है। धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करनी होगी, केवल सुनने से काम नहीं चलेगा; तोते की तरह कुछ शब्द और धर्म विषयक बातें रट लेने से काम नहीं चलेगा; केवल बुद्धि द्वारा स्वीकार कर लेने से भी काम न चलेगा – जरूरत है अपने भीतर धर्म को प्रवेश कराने की। अत: ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास रखने का सबसे बड़ा प्रमाण यह नहीं है कि यह तर्क से सिद्ध है; वरन् ईश्वर के अस्तित्व का सर्वोच्च प्रमाण तो यह है कि हमारे यहाँ के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी सिद्ध लोगों ने ईश्वर का साक्षात्कार किया है।[६]

पवित्र और नि:स्वार्थी बनने की कोशिश करो – सारा धर्म इसी में है।[७] धर्म का रहस्य आचरण से जाना जा सकता है, व्यर्थ के मतवादों से नहीं। सच्चा बनना तथा सच्चा बर्ताव करना – इसी में समग्र धर्म निहित है।[८]

नि:स्वार्थता ही ईश्वर है। कोई मनुष्य भले ही रत्नखचित सिंहासन पर आसीन हो, सोने के महल में रहता हो, परन्तु यदि वह पूर्ण रूप से स्वार्थरहित है, तो वह ब्रह्म में ही स्थित है। परन्तु एक दूसरा मनुष्य, चाहे झोपड़ी में ही क्यों न रहता हो, चिथड़े क्यों न पहनता हो, सर्वथा दीन-हीन ही क्यों न हो, परन्तु यदि वह स्वार्थी है, तो हम कहेंगे कि वह संसार में घोर रूप से डूबा हुआ है।[९]

स्वार्थपरता अर्थात् स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना ही सबसे बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं ही

पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो और मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग चला जाऊँ; वही व्यक्ति स्वार्थी है। नि:स्वार्थी व्यक्ति तो कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है, तो मैं उसके लिये भी तैयार हूँ।' यह स्वार्थपरता ही धर्म की कसौटी है। जिसमें जितनी अधिक नि:स्वार्थता है, वह उतना ही आध्यात्मिक है और उतना ही शिव के समीप है।[१०]

पुण्य वह है, जो हमारी उन्नति में सहायता करता है और पाप हमारे पतन में। मनुष्य तीन प्रकार के गुणों से निर्मित है – पाशविक, मानवीय और दैवी। जो तुममें दैवी गुण बढ़ाता है, वह पुण्य है; और जो तुममें पशुता बढ़ाता है, वह पाप है। तुम्हें पाशविक वृत्ति को मारकर मनुष्य अर्थात् प्रेममय और उदार बनना होगा। तुमको और भी ऊपर उठना होगा और शुद्ध आनन्द, सच्चिदानन्द, अदाहक अग्नि के समान; अद्भुत प्रेममय, किन्तु मानवीय प्रेम की दुर्बलता से रहित, दु:ख की भावना से रहित बनना होगा।[११]

मनुष्य जहाँ भी और जिस स्थिति में भी है, यदि धर्म वहीं उसकी सहायता नहीं कर सकता, तो उसकी उपयोगिता अधिक नहीं है – तब वह केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिये कोरा सिद्धान्त होकर रह जायेगा। धर्म यदि मानवता का कल्याण करना चाहता है, तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह मनुष्य की प्रत्येक दशा में उसकी सहायता कर सकने में तत्पर और सक्षम हो – चाहे गुलामी हो या आजादी, घोर पतन हो या अतीव पवित्रता, उसे सर्वत्र मानव की सहायता कर सकने में समर्थ होना चाहिये।[१२]

जिस किसी वस्तु से आध्यात्मिक, मानसिक या शारीरिक दुर्बलता उत्पन्न हो, उसे पैर की अँगुलियों से भी मत छुओ। मनुष्य में जो स्वाभाविक बल है, उसकी अभिव्यक्ति धर्म है। असीम शक्ति का स्प्रिंग इस छोटी-सी काया में कुण्डली मारे विद्यमान है और वह स्प्रिंग स्वयं फैल रहा है। ज्यों-ज्यों यह फैलता है, त्यों-त्यों एक-एक शरीर अपर्याप्त होता जाता है और वह उनका परित्याग कर उच्चतर शरीर धारण करता है। यही है मनुष्य का धर्म, सभ्यता या प्रगति का इतिहास।[१३]

ईश्वर प्राप्ति के मार्ग

मनुष्यों में साधारणतया चार प्रकार के होते हैं – बुद्धिवादी, भावुक, रहस्यवादी, कर्मठ। हमें इनमें से प्रत्येक के लिये उचित प्रकार की पूजा-विधि देनी होगी। बुद्धिवादी कहता है – "मुझे इस तरह का पूजा-विधि पसन्द नहीं। मुझे दार्शनिक, विवेक-सिद्ध सामग्री दो – मैं वही चाहता हूँ।" अत: बुद्धिवादी मनुष्य के लिये बुद्धिसम्मत दार्शनिक पूजा है।

फिर आता है कर्मठ। वह कहता है – "दार्शनिक की पूजा मेरे किसी काम की नहीं। मुझे अपने मानव बन्धुओं की सेवा करने दो।" उनके लिये सेवा ही सबसे बड़ी पूजा है। रहस्यवादी और भावुक के लिये भी उनके योग्य पूजा-विधियाँ हैं। धर्म में इन सब लोगों के इतिहास के तत्त्व हैं।[१४]

सारे मानव जाति का, सभी धर्मों का चरम लक्ष्य एक ही है और वह है – भगवान से पुनर्मिलन या दूसरे शब्दों में उस ईश्वरीय स्वरूप की प्राप्ति और वही प्रत्येक व्यक्ति का सच्चा स्वभाव है। परन्तु यद्यपि लक्ष्य एक ही है, तो भी लोगों के विभिन्न स्वभावों के अनुसार उसकी प्राप्ति के साधनों में भिन्नता हो सकती है।

लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों – इन दोनों को मिलाकर 'योग' कहा जाता है। 'योग' शब्द संस्कृत के उसी धातु से उत्पन्न हुआ है, जिससे अंग्रेजी शब्द 'योक' निकला है, जिसका अर्थ है 'जोड़ना', अर्थात् अपने को उस परमात्मा से जोड़ना, जो कि हमारा प्रकृत स्वरूप है। इस प्रकार के योग अथवा मिलन के कई साधन हैं, पर उनमें मुख्य हैं – कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग।

हर मनुष्य का विकास उसके अपने स्वभाव के अनुसार ही होना चाहिये। जैसे हर विज्ञान-शास्त्र के अपने अलग-अलग तरीके होते हैं, वैसे ही प्रत्येक धर्म के भी हैं। धर्म के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के तरीकों या साधनों को हम योग कहते हैं। विभिन्न प्रकृतियों और स्वभावों के अनुसार योग के भी विभिन्न प्रकार हैं। उनके निम्नलिखित चार विभाग हैं –

१. कर्मयोग – इसके अनुसार मनुष्य कर्म और कर्तव्य के द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है।

२. भक्तियोग – इसमें सगुण ईश्वर के प्रति भक्ति और और प्रेम के द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति होती है।

३. राजयोग – इसके अनुसार मन:संयम के द्वारा मनुष्य अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है।

४. ज्ञानयोग – इसके अनुसार ज्ञान के द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति होती है।

ये सब एक ही केन्द्र – परमात्मा की ओर ले जानेवाले भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।[१५]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) खण्ड १०, पृ. २१३; **२**. वही, खण्ड २, पृ. ६३; **३**. वही, खण्ड १, पृ. १७३; **४**. वही, खण्ड २, पृ. ३२८; **५**. वही, खण्ड ५, पृ. १४८; **६**. वही, खण्ड ५, पृ. २६८-६९; **७**. वही, खण्ड १, पृ. ३७९, १४४; **८**. वही, खण्ड १, पृ. ३८०; **९**. वही, खण्ड ३, पृ. ६१; **१०**. वही, खण्ड ५, पृ. ४०; **११**. वही, खण्ड १, पृ. २९४-९५; **१२**. वही, खण्ड ८, पृ. १२; **१३**. वही, खण्ड ९, पृ. १५५-५६; **१४**. वही, खण्ड ९, पृ. २२१; **१५**. वही, खण्ड ३, पृ. १६९-७०

अवतार-रहस्य (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

अभी हम भक्तिपूर्ण भजन के दिव्य भावमय संगीत का श्रवण कर रहे थे। हम लोग उस रस को पीते हुए धन्यता का अनुभव कर रहे थे, परन्तु अब आप प्रवचन सुनेंगे। दोनों में एक अन्तर है। संगीत मानो पीने की वस्तु है। भगवान के गुणों का रसपान है और यह जो प्रवचन सुनना है, इसके लिये गोस्वामीजी ने जो शब्द लिखा है, वह बड़ा सांकेतिक है – जिसके कहने से, गाने से, सुनने से और समझने से व्यक्ति को मुक्ति मिलती हैं –

जो सुनत गावत कहत समुझत
परम पद नर पावई ।। छ. ४/३०

दो शब्द हैं – कहना तथा गाना और दो शब्द हैं – सुनना तथा समझना। गुण गाया जाय, तो सुनिये और कथा कही जाय, तो समझिये। यह एक मूल सूत्र है। संगीत सुनना मानो रस है। भोजन में तो दोनों ही चाहिये – भोजन तो चाहिये, परन्तु साथ में रस भी चाहिये। रस में और भोजन में तो बड़ा अन्तर है। रस को तो आप सीधे पीते चले जाते हैं, परन्तु भोजन को पहले चबाना पड़ता है। उसके बाद उसे धीरे-धीरे गले से नीचे लेना पड़ता है। तो दिव्य रस का पान करने के बाद आइये थोड़ा भोजन करें। आप लोग भोजन को थोड़ा चबाइये अर्थात् इसको बुद्धि से थोड़ा ग्राह्य बनाइये। इस कथा का जो स्वरूप है, वह समझने से जुड़ा हुआ है। भोजन में कई रस होते हैं। इसमें कुछ कड़वा भी हो सकता है, कोई आवश्यक नहीं कि सब फल के समान मीठा ही हो।

कल की चर्चा में चार मार्गों की भावना की गई। परन्तु जैसा साधारणत: लोग कह दिया करते हैं, साधना में उत्कृष्ट और अपकृष्ट का प्रश्न नहीं आता। यहाँ एक दिन एक सज्जन आये। उन्होंने पूछा कि ज्ञान ही सबसे अच्छा है न? इस पर मैंने कहा कि दवा की दुकान में जाकर यह मत पूछिये कि सबसे बढ़िया दवाई कौन-सी है। ऐसा कभी नहीं करना चाहिये। आप दवा की दुकान में जायँ और कहें – जो सबसे बढ़िया दवा हो, सबसे महँगी दवा हो, वह दे दीजिये। यह कोई बड़ी बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। पहले आप यह तो निर्णय कर लीजिये कि आपको रोग क्या है? फिर निर्णय होगा उस रोग को मिटाने के लिये कौन-सी दवा चाहिये। आपके रोग को दूर करने के लिये जो दवा है, वही आपके लिये सबसे ऊँची दवा है, भले ही उसका मूल्य बहुत कम हो। तो जो लोग कह दिया करते हैं कि ज्ञान तो बड़ा ऊँचा है, या फिर भक्ति या कर्म ही सबसे ऊँचा है, आदि। अब इसका खण्डन तो मैं क्या करूँ? बस, यही कह सकता हूँ कि यह कोई बहुत विचारयुक्त बात नहीं है।

अभी भगवान पंचनाथ के दर्शनार्थ बुलाया गया था। मैं गया था, तो उस सन्दर्भ में भी एक बात आई थी कि कभी-कभी लोग कह देते हैं कि मूर्तिपूजा तो साधारण व्यक्तियों के लिये है और जो उच्चज्ञान में हैं, उनको मूर्तिपूजा की आवश्यकता नहीं। पर क्या यह बात सही है?

इसका उत्तर रामायण में ही है। रावण के यहाँ भगवान शंकर स्वयं पूजन कराने आते थे, परन्तु जब भगवान राम ने उनकी पूजा की, तो मूर्ति बनाकर की। तो क्या मूर्तिपूजा करनेवाले भगवान राम पहली कक्षा के विद्यार्थी थे और आप बड़े उच्च कथा के विद्यार्थी हैं? तब तो भगवान राम से रावण का स्थान ही ऊँचा होगा। रावण के यहाँ तो ब्रह्माजी नित्य वेदपाठ करने आते थे, शंकरजी नित्य पूजा कराने आते थे –

वेद पढ़ैं बिधि, संभु सभीत, पुजावन
रावन सो घर आवैं ।। कविता., ६/२

यह बड़ा सांकेतिक तत्त्व है। किसी के लिये तो मूर्तिपूजा प्रथम कक्षा है और किसी के लिये अन्तिम कक्षा के बाद की भी कक्षा है। रावण ने भगवान शंकर से कह दिया था – "महाराज, आप तो कैलाश पर खाली बैठे रहते हैं और मैं राजकाज में बड़ा व्यस्त रहता हूँ। तो आप ही चले आया करें, मैं आपकी पूजा कर लिया करूँगा।"

भगवान शंकर बड़े कौतुकी हैं। वे नित्य आ भी जाते थे। रावण उनकी नित्य पूजा करता था। बाद में किसी ने भगवान शंकरजी से कहा – "रावण ने जीवन भर आपकी पूजा की, नित्य आप उसकी पूजा लेने के लिये गये, परन्तु उस बेचारे के विनाश में उसके वध में ही आप सहायक बने। क्या यही आपकी पूजा का फल है?" शंकरजी ने कहा – "रावण मेरी पूजा थोड़े ही करता था, वह तो अपने की पूजा करता था।"

बड़ी सूक्ष्म बात है। हम लोग जब किसी की पूजा करते हैं, तो क्या उसकी पूजा का अर्थ यह है कि किसी के गले में आप माला पहना दें, चन्दन लगा दें, तो आपने उसकी पूजा

कर ली? नहीं, भगवान शंकर पूजा का अर्थ बताते हैं – रावण अपने अहंकार की पूजा करता था और प्रचार करता था कि वह मेरी पूजा है। – रावण ने मूर्तिपूजा क्यों नहीं की? – इसलिये कि वह मानता था कि मूर्तिपूजा तो साधारण लोगों के लिये है और साथ ही वह यह भी सोचता था कि यदि मैंने मूर्तिपूजा की और संसार में भी लोग मूर्तिपूजा करते हैं, तो फिर मुझमें विशेषता क्या हुई !

बहुत-से लोग अपनी विशेषता के लिये बेचैन रहते हैं कि जो सब करते हैं, यदि मैंने भी वही कर दिया, तो फिर उनमें और हममें क्या अन्तर है ! यही तो अहंकार है। हम चाहते हैं कि हम अन्य लोगों से बिल्कुल भिन्न लगें। भगवान शंकर ने कहा – "वह पूजा अपने अहंकार के लिये करता था, इसी कारण तो मुझे हनुमान होकर उन प्रभु के साथ जाना पड़ा, जिन्होंने पूजा का वास्तविक तत्त्व बताया।"

अभिप्राय यह कि मूर्तिपूजा बड़ा सरल है, कोई मूर्ति बना लीजिये और पूजा कर लीजिये। भगवान राम ने शंकरजी को नहीं बुलाया, आवाहन नहीं किया। जो रावण के कहने पर चले आते थे, वे क्या भगवान राम के कहने पर नहीं आते? परन्तु भगवान राम ने तो प्रस्तर की मूर्ति बनाकर पूजा की। कहीं-कहीं यह भी प्रचलित है कि प्रस्तर की मूर्ति आने में विलम्ब हुआ, तो बालू की ही मूर्ति बना ली। कितनी विलक्षण बात है। जब भगवान राम से कहा गया कि आपने भगवान शंकर को नहीं बुलाया, आने के लिये नहीं कहा? तो भगवान राम बोले – "अगर मैं यह मानता होता कि भगवान शंकर केवल कैलाश में रहते हैं, तो मैं उन्हें आने के लिये कहता, परन्तु मुझे तो ज्ञात है कि भगवान शंकर सर्वत्र हैं, कण-कण में हैं और उनकी कहीं भी पूजा की जाय, वह शिव की ही पूजा है।"

यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। इतनी दिव्य पूजा – मूर्तिपूजा तो समग्र अर्थों में वही कर सकता है, जिसको सर्वत्र चैतन्य रूप में ईश्वर दिखाई दे रहा हो। साधारण व्यक्ति भले ही अभ्यास से करे, परन्तु प्रभु की पूजा अहंकार के लिये नहीं थी, बल्कि यह बताने के लिये थी कि ईश्वर का सर्वत्र साक्षात्कार किया जा सकता है। उनके मन में कोई होड़ का भाव नहीं था कि रावण ने बुलाया, तो हम क्यों न बुलावें? रावण के यहाँ आते थे, तो मेरे यहाँ क्यों न आयें?

यह समस्या कभी-कभी तो मैं अपने जीवन में भी देखता हूँ, पर वह बात केवल शुद्ध अहं की है। इसी प्रसंग में पार्वतीजी ने भगवान शंकर से पूछा – रावण बुलाता था, तो आप चले जाते थे, परन्तु भगवान राम ने मूर्ति बनाई, फिर उसमें मंत्र से आवाहन किया गया, तो आप चले क्यों नहीं गये? भगवान शंकर ने उसकी अनोखी व्याख्या की। उन्होंने कहा – "पार्वती, अन्य लोग मुझ साक्षात् शंकर में भी शंकर को देख पाते हैं या नहीं – यह कहना बड़ा कठिन है। रावण मेरे स्वरूप को कहाँ देख पाया, कहाँ समझ पाया। पर मेरे प्रभु राम तो इतने महान् हैं कि वे जिस पत्थर को छू देते हैं, वही शंकर हो जाता है, उसमें मेरे जाने का क्या प्रश्न है?"

तो क्या ऊँचा है और क्या नीचा – इसके चक्कर में न पड़िये। ऊँचा-नीचा कुछ नहीं होता। आप जहाँ है, आपके लिये वहीं ऊँचा है, वही ठीक है। यदि आप सोचने लगेंगे कि ज्ञान ऊँचा या भक्ति ऊँची है, कर्म ऊँचा या दीनता ऊँची है, तो अनावश्यक विवाद में उलझ जायेंगे। बस, हमें यह देखना है कि हम कहाँ बैठे हुए हैं। हमें कहाँ से चलना है। यदि प्रश्न किया जाय कि सबसे तीव्र गति वाला वाहन कौन-सा है? तो कोई भले ही हवाई जहाज का नाम ले ले। हो सकता है, ऐसा ही हो, परन्तु यदि वह एक ऐसा गाँव हो, जहाँ अभी सड़कें भी नहीं हैं, वहाँ रहनेवाले लोगों को यदि आप बतायें कि सबसे तीव्र गतिवाला वाहन वायुयान है, तो आपने बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं किया। उस बेचारे को जहाँ से चलना है, वहीं से चलाइये। उससे कहिये कि बैलगाड़ी ही सबसे बढ़िया वाहन है, क्योंकि उसके लिये तो बैलगाड़ी ही सुलभ है। उसी पर बैठकर वह आगे चल सकता है। अत: जिसने गोस्वामीजी के समान उस पूर्ण दृष्टि को पाया हो, उनकी बात अलग है। भगवान श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन में वही समग्रता व्यक्त होती है।

हनुमानजी बताना चाहते हैं कि प्रत्येक मार्ग ठीक है, परन्तु देखना यह है कि व्यक्ति कहाँ बैठा हुआ है। कोई मन में बैठा हुआ है, तो कोई बुद्धि में। आप कहाँ बैठे हुए हैं? आप कह सकते हैं कि आप श्रीरामकृष्ण आश्रम में बैठे हुए हैं। शरीर की दृष्टि से यह ठीक है, परन्तु क्या सचमुच ही आप सभी आश्रम में ही बैठे हुए हैं? आपका मन कहाँ है? आपने वह व्यंगात्मक गाथा सुनी होगी।

दो मित्र जा रहे थे। एक ने कहा – "कथा हो रही है, चलो सुने।" दूसरे ने कहा – "भाई, मुझे तो जल्दी घर पहुँचना है, जरा विश्राम करूँगा, पत्नी-बच्चों से बातें करनी है।" एक व्यक्ति घर चला गया और दूसरा कथा सुनने बैठ गया। कथा थोड़ी गम्भीर थी। जो कथा सुनने बैठा, कथा उसकी समझ में नहीं आई। वह बेचारा घबराने लगा – "यह मैं बेकार ही कहाँ फँस गया ! बीच से उठकर जायँ, तो लोग न जाने क्या कहेंगे। बात कुछ समझ में नहीं आ रही है। मेरा मित्र पैर फैलाये मजे से लेटा होगा। बच्चों को गोद में लिये हुए पत्नी से बातें कर रहा होगा। मैं ही बुरा फँसा !"

परन्तु दूसरा मित्र बेचारा जब घर गया, तो पहुँचते ही पत्नी से झगड़ा हो गया। वह सोचने लगा – "कथा छोड़कर मैं यहाँ कहाँ आ गया। मेरा मित्र सुन्दर कथा सुन रहा होगा।" जो कथा में था वह मन से घर पहुँच गया। तो आप

बैठे चाहे जहाँ भी हों, पर देखना होगा कि मन से कहाँ हैं?

अब दूसरी दृष्टि से विचार कीजिये। आप मन में बैठे हुए हैं या बुद्धि में, चित्त में बैठे हुए हैं या अहंकार में। आप जहाँ भी हैं, आपके लिये साधना का श्रीगणेश वहीं से होगा। वही आपके लिये उचित है। इसीलिये भगवान कृष्ण अर्जुन से बहुत ऊँची बातें कह देते हैं। कृपा की बातें कितनी मीठी लग रही थी। पर कृपा की बात बच्चों के लिये ही है। बच्चे माने छोटे बच्चे नहीं। जिसके मन में सचमुच उस बालवृत्ति का उदय हो गया हो, जिसे अपनी असमर्थता और अभाव का भान हो, उसी को तो कृपा की अनुभूति हो सकती है। अन्य लोग सुन सकते हैं, उसके आधार पर साधन भी छोड़ सकते हैं। यदि थोड़ी साधना करते हैं और कृपा की बात सुनकर साधना छोड़ दी, तो यह कोई उचित पद्धति नहीं है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधना श्रेष्ठ है और इसीलिये भगवान कृष्ण अर्जुन से गीता में कहते हैं – हे अर्जुन, जो व्यक्ति कर्म में लगे हुए हैं, जिनकी कर्म में अत्यन्त आसक्ति है, उनमें ज्ञान के द्वारा बुद्धिभेद उत्पन्न मत करो। बल्कि विद्वान् को चाहिये कि स्वयं उसके सामने उसी प्रकार का आचरण करके, उसको उसी दिशा में चलने की प्रेरणा प्रदान करे –

न बुद्धिभेदं जनयेत् अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।३/२६

ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, कर्मयोगी या दैन्य-मार्गी – हनुमानजी जिस प्रकार के साधक से मिलते हैं, उसके सामने अधिकारी भेद से उसी के उपयुक्त रहस्य प्रकट करते हैं और इस कारण वे प्रत्येक मार्ग के व्यक्ति के लिये आदर्श हैं।

कहा गया था कि भोजन में थोड़ा कड़ुवा भी हो सकता है। तो अब हम थोड़ा हनुमानजी के चरित्र का दोनों पक्ष – कृपा के सन्दर्भ के साथ ही साधना का पक्ष भी देखेंगे।

हनुमानजी की लंका-यात्रा क्या है? यदि आप साधना का उत्कृष्टतम रूप जानना चाहें, तो हनुमानजी की इस यात्रा को समझ लें। इसे समझने के बाद यदि आप अयोध्या के निवासी हैं, तो चित्रकूट की ओर चलिये और यदि किष्किंधा के निवासी हैं, तो लंका की ओर चलिये। उसके बाद साधन-पथ की जो कठिनाइयाँ हैं, जो विघ्न-बाधाएँ हैं, हम उनको समझ लें और हनुमानजी के चरित्र से यह सीख लें कि उन विघ्नों को कैसे पार किया जाय। असंख्य बन्दर लंका की ओर चले जा रहे हैं। बन्दर बड़े चंचल होते हैं, वे मन के प्रतीक हैं। भगवान के हमारे जो दो अवतार हैं – श्रीराम और श्रीकृष्ण। इनमें से एक को गायें और दूसरे को बन्दर बहुत प्रिय हैं। भगवान श्रीकृष्ण सदा गायों से ही घिरे रहते हैं।

आगे गाय, पीछे गाय, इत गाय उत गाय,
मेरे गोपाल को तो गायन में रहिबो भावै।।

उधर भगवान राम को आप बन्दरों के संग देखते हैं –

कृपा सिन्धु सोइ कपिन्ह सन
करत अनेक विनोद।। ६/११७

गाय हर दृष्टि से हितकर है और धन्य है हमारी संस्कृति, जिसमें गायों के प्रति बड़ी श्रद्धा है। परन्तु गाय के 'गो' शब्द का प्रयोग इन्द्रियों के लिये भी किया गया है –

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।। ३/१५/३

गायों को चरना प्रिय है। श्याम-सुन्दर गायों को चराने ले जाते हैं। भागवत में है – एक बार गायें भगवान श्रीकृष्ण को छोड़कर दूर चली गईं और वन में आग लग गई। गायें भी उस आग में जलने लगीं। श्रीकृष्ण आये और वे उस अग्नि को पी गये। गायें बच गयीं। आध्यात्मिक अर्थों में इसका अर्थ यह है कि हमारी इन्द्रियाँ भी विषयों का चारा खाना चाहती हैं – आँख को रूप चाहिये, कान को शब्द चाहिये, नासिका को सुगन्ध चाहिये, जिह्वा को रस चाहिये। निर्गुण-निराकारवादी कह सकते हैं कि विषय तो झूठे हैं, इन्द्रियों को इनसे हटा लीजिये, परन्तु भगवान श्रीकृष्ण यह बताना चाहते हैं कि इन्द्रियों को यदि भगवान से जोड़ दिया जाय, तो हम विषयों को भी भगवान के संरक्षण में पायेंगे और हम संसार के दावानल में जलने से बच जायेंगे।

भगवान के भक्तों में विनोद चलता है कि श्रीराम श्रेष्ठ हैं या श्रीकृष्ण? दोनों में कौन श्रेष्ठ है। जहाँ तक आनन्द के लिये विनोद की बात है, वहाँ तक तो कोई बात नहीं, मगर कोई-कोई इसे सचमुच ही मानकर थोड़ा झगड़ भी लेते हैं।

वस्तुत: वे ही श्रीराम हैं और वे ही श्रीकृष्ण हैं। गोस्वामीजी श्रीकृष्ण के मन्दिर में गये, तो उनके मन में भेदबुद्धि नहीं थी। वे जानते थे कि दोनों एक ही हैं। वे प्रभु के समक्ष खड़े हुए हैं, तो पीछे से परशुराम नाम के व्यक्ति ने व्यंग्य किया – जो अपने इष्टदेव को प्रणाम करता है, वह तो बुद्धिमान है और जो किसी को भी प्रणाम करता है, वह मूर्ख है –

अपने अपने इष्ट को नमन करै सब कोय।
परसुराम जो आन को नवय सो मूरख होय।।

आजकल भी अनेक लोग स्वयं को इसी तरह का अनन्य भक्त मानते हैं। कहते हैं – हम राम के भक्त हैं कृष्ण को प्रणाम नहीं करेंगे। मैंने कहा – "संसार में सबको प्रणाम करोगे, एक कृष्ण या राम को ही छोड़ दोगे। स्वार्थ के लिये चाहे जिसके सामने झुक रहे हो, प्रणाम कर रहे हो और इस विषय में अनन्य बन गये हो।" कितनी हास्यास्पद बात है। यदि अनन्यता का अर्थ यही है कि अपने इष्टदेव को छोड़कर अन्य किसी को प्रणाम न करें, तो संसार में आप औरों के सामने झुकते हैं या नहीं? इसके बावजूद यदि कोई ऐसा कहे, तो उसने अनन्यता का सच्चा अर्थ जाना ही नहीं। गोस्वामीजी श्रीकृष्ण के मन्दिर में गये थे, परन्तु देखा कि इस व्यक्ति के मन में भेद-बुद्धि है, तो कह दिया कि आप

सुन्दर तो बहुत लग रहे हैं, लेकिन बाँसुरी के स्थान पर जरा धनुष-बाण ले लीजिये। कई लोग समझते हैं कि यह भेद-बुद्धि है। भेदबुद्धि नहीं, यह तो अभेद बुद्धि है। यदि वे दोनों को अलग मानते होते तो बाहर निकल जाते, पर उन्होंने कहा कि आप तो दोनों ग्रहण कर लेते हैं। धनुष-बाण धारण करने को कहना – यह तो भावना का रस है, ऐसा आनन्द आप ले सकते हैं। उनके किसी रूप का ध्यान आपको अधिक आकर्षण लगता है। परन्तु यदि आप सचमुच और विवेक से भी ऐसा मानते हो कि ये दोनों अलग हैं और इनमें कोई श्रेष्ठ और कोई कनिष्ठ है, तो वह भावना का रस हो सकता है, विवेक का सत्य नहीं हो सकता।

तत्त्व और भाव – ये दो पक्ष हैं। भावना का आनन्द लेना अलग बात है। भले ही सभी मिठाइयाँ एक ही वस्तु से बनी हो, पर कोई मिठाई आपको बहुत पसन्द आती है। तो वह ठीक ही है। वस्तुत: भगवान तो एक ही हैं, परन्तु हो सकता है कि किसी ने गोस्वामीजी से विनोद किया हो – "देखिये, हमारे भगवान श्रीकृष्ण तो इतने उदार हैं कि वे गायों को चराते हैं; आपके राम तो राजाधिराज हैं, वे कहाँ पशुओं को चराने जायेंगे?" इसका गोस्वामीजी ने बड़ा मीठा उत्तर दिया – "श्रीकृष्ण रूप में तो उन्होंने गायों को चराया, परन्तु श्रीराम के रूप में जब उन्होंने अवतार लिया, तो उन्होंने बन्दरों को चराया।" गाय इन्द्रियाँ हैं और हम लोगों के पास एक-एक बन्दर भी है। वह जो बड़ा चंचल और उछल-कूद मचानेवाला मन है, जो एक स्थान पर टिकता ही नहीं, वही वह बन्दर है। गोस्वामीजी ने अपने को उसी रूप में देखा और उन्होंने कवितावली रामायण में एक बड़ी भावपूर्ण कविता में यह बात बड़े सुन्दर रूप में लिखी।

गोस्वामीजी के पिता ने उनको अभागा समझकर छोड़ दिया था। किसी ने कहा – आपके पिताजी को ज्योतिष का ज्ञान था ही नहीं, तभी तो उन्होंने ऐसी भूल की। गोस्वामीजी बोले – नहीं, ऐसी बात नहीं। ज्योतिषी तो वे बड़े अच्छे थे। – तो फिर क्या हुआ? भक्तों की क्या बढ़िया भावना होती है! गोस्वामीजी बोले – "मनुष्य का जब जन्म होता है, तो ब्रह्मा उसके मस्तक पर उसका भाग्य – उसके पूर्व कर्मों का फल लिख देते हैं। ब्रह्मा जब मेरा निर्माण करने लगे। तो चित्रगुप्त से कहा – इसके पुण्यों का खाता लाओ। चित्रगुप्त ने कहा – इसने कभी कोई पुण्य ही नहीं किया, अत: एक भी पुण्य नहीं है। उन्होंने कहा – अच्छा, पापों का खाता ले आओ। चित्रगुप्त के सेवक लाने लगे। खाता आता जा रहा है, आता जा रहा है, अम्बार लग गया। ब्रह्माजी ने पूछा – भाई, इसके पाप के कितने खाते हैं। चित्रगुप्त ने कहा – इसने इतने पाप किये हैं कि अभी जितने खाते हैं, उसमें न जाने और कितने गुने और भी बही-खाते हैं, वे सब आ रहे हैं। ब्रह्माजी ने सिर पकड़ लिया। बोले – भाई, इसका सिर तो छोटा-सा है। पुण्य किया नहीं, जो अच्छा फल क्या लिखें और पाप इतना किया कि इसे छोटे-से सिर में फल समा नहीं सकता। तो इसके सिर को मैं कोरा ही छोड़ देता हूँ। न अच्छा न बुरा, कुछ लिखूँगा ही नहीं। तो मेरे सिर को कोरा देखकर भगवान ने कहा – यह ठीक है, भगवान को लिखने के लिये कोरा कागज चाहिये था, उनको लगा कि यह कोरा कागज बढ़िया है। उन्होंने लिख दिया। तुलसीदास के सिर पर जो भी है, वह ब्रह्मा का लिखा हुआ नहीं, प्रभु का लिखा हुआ है। उन्होंने कवितावली में लिखा –

पातक पीन कुदारिद दीन मलीन धरैं कथरी करवाहे।
लोग कहैं विधि हूँ न लिख्यों सपनेहु नहीं अपने बरवाहे ।।

वह तुलसी राम के किंकर के रूप में अगर वन्दनीय हो रहा है। तो उन्होंने कहा – यह तो समझने की बात है, क्या कहें, हमारे प्रभु जो हैं, वे चरवाहे हैं। किसके? वे यदि गाय के चरवाहे हैं, तो ये बन्दर के चरवाहे हैं –

राम को किंकर सो तुलसी,
समुझे ही बनै कहिबे न रवा है।
ऐसे को एसो भयो तुलसी
न भजे बिनु बानर के चरवाहे ।। कविता., ५६

मधुर विनोद किया – गाय को चराइये, तो दूध देगी, परन्तु बन्दर को चराइये तो क्या मिलने वाला है। हम तो गाय जैसे भी नहीं, बन्दर जैसे हैं। मैं कुछ भी सेवा करने योग्य नहीं हूँ। मुझमें कुछ भी प्रतिदान चुकाने की शक्ति नहीं है। उस वानर के चरवाहे ने मुझ पर कृपा की। हमारे मन में चंचलता है, हममें कोई योग्यता नहीं है, कोई सामर्थ्य नहीं है, तब तो हमें उस वानर के चरवाहे का आश्रय तो लेना ही चाहिये। जो वानरों का भी उस चंचल मन का भी अयोग्य और असमर्थ का भी सदुपयोग कर लेता है।

एकाग्रता का सदुपयोग है योग। योग में कहेंगे कि जब तक एकाग्रता नहीं आयेगी, तब तक सिद्धि नहीं मिलेगी। किन्तु यहाँ बन्दर के रूप में यह संकेत किया गया कि चंचल मन के द्वारा भी ईश्वर को पाया जा सकता है। चंचल मन से ईश्वर को पाने का सांकेतिक अर्थ है कि यदि वह ब्रह्म निर्गुण-निराकार ही होता, यदि वह केवल कूटस्थ-स्थिर ही होता, तो उसमें मन को स्थिर करना पड़ता। लेकिन हमारा ईश्वर तो स्वयं ही चंचल है और चंचल है तो आइये, प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाय, एक ओर हमारी चंचलता और दूसरी ओर उसकी चंचलता। यहाँ लीला का विस्तार है, वेदान्त में विस्तार नहीं है, ज्ञान में विस्तार नहीं। वहाँ मन को समेटना होगा, परन्तु यहाँ मन को फैलाइये और ये प्रभु जहाँ-जहाँ जायँ, जिधर-जिधर जायँ, जो जो लीला करें, हम अपने चंचल मन को उन्हीं के पीछे दौड़ाने लगे। **❖ (क्रमश:) ❖**

भागवत की कथाएँ (१९)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

नारद-वसुदेव संवाद (नव योगीन्द्र)

देवर्षि नारद श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ प्राय: ही द्वारका आते रहते थे। एक दिन श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव ने उनसे कहा – "मैंने पुत्र पाने की इच्छा से ईश्वर की आराधना की थी; मुक्ति के लिए नहीं। अब आप मुझे मुक्ति का उपाय बताइये।"

नारद ने वसुदेव से कहा – "आज आप जो मुक्ति के बारे में जानना चाहते हैं, इस विषय में विदेह-राज निमि तथा नौ-योगीन्द्र के बीच विस्तार-पूर्वक चर्चा हुई थी। राजा निमि द्वारा अनुष्ठित एक यज्ञ में ऋषभदेव के नौ पुत्र (जो श्रेष्ठ योगी होने के कारण नौ-योगीन्द्र के नाम से विभूषित हुए थे) उपस्थित थे। इन नौ मुनियों के नाम हैं – कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभंजन। राजा निमि एक-एक प्रश्न करते और नौ योगीन्द्रों में से एक-एक योगीन्द्र उनके उत्तर देते जाते। उन लोगों ने जो धर्म-चर्चा की थी, वह इस प्रकार है –

१. राजा निमि का प्रथम प्रश्न – धर्म के जिस आचरण से भगवान विष्णु प्रसन्न होकर अपनी शरण में आए हुए भक्त को अभयदान देते हैं, वह धर्म मुझे बतलाइये।

उत्तर में श्री कवि मुनि ने कहा – "सदैव अच्युत के चरण-कमलों की सेवा करना ही अभय-प्राप्ति का उपाय है। भगवान की उपासना से हर तरह के भय से निवृत्ति होती है। आप वाणी से जो बोलें, मन में जो सोचें, बुद्धि की सहायता से जो निर्णय करें, समस्त इन्द्रियों से आप जो कर्म करें, उन सबको परम पुरुष नारायण को समर्पित करें।[1]

२. राजा निमि ने पूछा – भगवद्भक्त के क्या लक्षण हैं?

हवि मुनि ने उत्तर दिया – "जो सभी जीवों में भगवान को तथा भगवान में सभी जीवों को देख पाते हैं, वे उत्तम भक्त हैं। जो ईश्वर से प्रेम, जीवों के प्रति मित्रता, अज्ञानी पर कृपा तथा विरोधी के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं, वे मध्यम भक्त हैं। और जो केवल प्रतिमा आदि की पूजा करते हैं तथा अन्य कुछ भी नहीं जानते, वे अधम या प्राकृत भक्त हैं।"

३. राजा का तीसरा प्रश्न – माया का स्वरूप क्या है?

अन्तरिक्ष मुनि का उत्तर था – "जिस शक्ति के द्वारा परमेश्वर इस जगत् की सृष्टि करते हैं, वह शक्ति ही माया है। जीव माया के वशीभूत होकर विषयों में आसक्त होता है और महाप्रलय तक जन्म-मरण के अधीन रहता है।"

४. निमि ने जिज्ञासा की – इस माया से उद्धार का उपाय क्या है?

उत्तर में प्रबुद्ध मुनि ने सविस्तार चर्चा करते हुए कहा – "वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञानी सद्गुरु की शरण लेना ही इस माया से उद्धार का उपाय है।"

५. राजा निमि का पाँचवा प्रश्न था – परमात्मा का स्वरूप क्या है?

पिप्पलायन मुनि का उत्तर था – "जो सृष्टि-स्थिति तथा प्रलय के कारण हैं, परन्तु जिनका अपना कोई कारण नहीं है; संसार के समस्त प्राणी किसी-न-किसी समय सोते हैं, परन्तु जो स्वयं कभी नहीं सोते; देह-मन-प्राण एवं सभी इन्द्रियाँ जिनकी शक्ति से संजीवित एवं प्रकाशित होती हैं, तथापि जिन्हें कोई प्रकाशित नहीं कर पाता; जिनका जन्म नहीं है और मृत्यु भी नहीं है – वे ही परमात्मा हैं।"

६. इसके पश्चात् राजा ने पूछा – "किस कर्म के द्वारा मनुष्य कर्म के बन्धन से मुक्त हो सकता है?

आविर्होत्र मुनि बोले – "शास्त्र-विहित कर्म करके ही कर्म -बन्धन से मुक्ति मिलती है – परन्तु कर्म अनासक्त भाव से करना होगा और कर्म का फल ईश्वर के पाद-पद्मों में अर्पित करना होगा। ऐसा हो, तभी कर्मबन्धन से मुक्ति मिलेगी।"

७. राजा निमि का सातवाँ प्रश्न था – श्रीहरि ने (अवतार रूप में) जन्म लेकर, जिस जन्म में जो कार्य (लीला) किये हैं, या करेंगे, उन्हें बताइये।

द्रुमिल मुनि इस प्रश्न के उत्तर में श्रीहरि की अवतार-

---

१. कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृत स्वभावात्।
करोति यद्यद् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥ ११/२/३६

लीला का वर्णन करने लगे –

"प्राणियों का कल्याण करने हेतु भगवान ने अनेक बार इस पृथ्वी पर आगमन किया है। सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार, नर-नारायण, दत्तात्रेय, ऋषभदेव ये सब श्रीविष्णु के अंश से अवतरित हुए थे। उन सब ने संसारवासियों को आत्म-तत्त्व का उपदेश दिया था। ('अवतार कथा' अध्याय में अवतारों का वर्णन हुआ है, यहाँ उनकी लीला का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।)

"हयग्रीव या हयशीर्ष अवतार में भगवान विष्णु ने मधु राक्षस के ग्रास से चारों वेदों का उद्धार किया। मत्स्य-अवतार में उन्होंने प्रलय काल में जलमग्न पृथ्वी की रक्षा की थी। वराह-अवतार में उन्होंने आदि-दैत्य हिरण्याक्ष का वध किया था। कुर्म-अवतार के फलस्वरूप ही समुद्र-मन्थन सम्भव हो सका था। समुद्र-मन्थन के समय भगवान कुर्म (कछुए) के रूप में अवतरित होकर मन्दार पर्वत रूपी मथानी का आधार बने थे। श्रीहरि ने ही विपत्ति में फँसे हुए आर्त गजेन्द्र को ग्राह (मगरमच्छ) के मुँह से छुड़ाकर मुक्त किया था। प्रह्लाद जैसे साधु-सज्जनों को अभय प्रदान करने के लिए वे नरसिंह के रूप में अवतीर्ण हुए थे।

"वामन-अवतार में उन्होंने दैत्यराज बलि का गर्व चूर किया था। भगवान ने भृगु के वंशज परशुराम के रूप में भी अवतार ग्रहण किया था – जिनके कारण पृथ्वी से इक्कीस बार क्षत्रियों का उन्मूलन हुआ था। लोकपावन श्रीरामचन्द्र के अवतार में उन्होंने लंकापति रावण का वध किया था। भगवान श्रीकृष्ण के रूप में यदुकुल में अवतरित होकर वे वीरतापूर्ण ऐसे कार्य करेंगे, जो देवताओं के लिए भी दु:साध्य हैं। वे बुद्ध के रूप में अवतरित होकर अहिंसावाद का प्रचार करेंगे और कलियुग के अन्त में वे ही म्लेच्छ राजाओं का अन्त करने कल्कि के रूप में आयेंगे।"

८. अब राजा निमि ने पूछा – जो लोग श्रीभगवान का भजन-कीर्तन नहीं करते तथा जो अशान्त एवं अजितेन्द्रिय हैं, इसके परिणामस्वरूप उन लोगों की क्या हानि होती है?

इस प्रश्न के उत्तर में चमस मुनि बोले – "अनेक लोग अज्ञानवश ईश्वर का भजन-कीर्तन नहीं करते और अनेक लोग जानकर भी ईश्वर का अनादर, अवहेलना तथा उपेक्षा करते हैं। ये सभी लोग धर्म से गिर जाते हैं तथा दूसरे जन्मों में बहुत कष्ट पाते हैं। सम्भव है कि इन्हें शब्दों का ज्ञान हो जाय; सम्भव है कि इन लोगों ने अनेक शास्त्र-ग्रन्थ पढ़ रखे हों, परन्तु तत्त्वज्ञान पर इनका कोई अधिकार नहीं होता। और तत्त्वज्ञान नहीं होने से ये लोग संसार के भोगों को ही जीवन का उद्देश्य समझते हैं। इससे ये लोग शरीर को ही नित्य मानने लगते हैं। जिनके लिए देह ही सब कुछ है, उन्हें कभी शान्ति नहीं प्राप्त होती। ये लोग बड़ा परिश्रम करके धन का उपार्जन करते हैं, घर-द्वार बनाते हैं और सगे-सम्बन्धियों को प्राप्त करते हैं। परन्तु ये सब अनित्य हैं; स्थायी सुख नहीं दे सकते। इच्छा न हो, तो भी एक दिन इन सबको छोड़कर जाना पड़ता है। मृत्यु उनकी आँखों की ओट से आ पहुँचती है और उन्हें घोर नरक में ले जाती है।"

९. निमि राजा का अन्तिम प्रश्न था – भगवान किस-किस युग में कैसा रंग तथा कौन-सा आकार धारण करते हैं और मनुष्य किन नामों तथा विधियों से उनकी पूजा करते हैं?

करभंजन मुनि ने इन प्रश्नों के उत्तर में कहा – "सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि – इन चार युगों में भगवान भिन्न-भिन्न रंग धारण करते हैं। सत्ययुग में वे श्वेत वर्ण, त्रेतायुग में रक्त वर्ण, द्वापर में श्याम वर्ण तथा कलि युग में वे कृष्ण वर्ण धारण करते हैं।

सत्ययुग में वे चार भुजाएँ, वल्कल वस्त्र तथा दण्ड-कमण्डल धारण करते हैं और हंस, सुपर्ण, ईश्वर, परमात्मा आदि नामों से पूजित होते हैं। त्रेतायुग में वे चतुर्भुज और मेखला धारण करते हैं, मालाओं और चन्दन से सुशोभित होते हैं तथा विष्णु, यज्ञ एवं पृश्निगर्भ आदि नामों से उनकी पूजा की जाती है। द्वापर में भगवान पीले वस्त्र तथा शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण करते हैं और वासुदेव, संकर्षण आदि नामों से सम्पूजित होते हैं। और कलियुग में भगवान इन्द्रनील मणि के समान उज्ज्वल वर्ण के होते हैं, राम और कृष्ण आदि के रूप में वे हृदय आदि अंगों, कौस्तुभ आदि उपांगों, सुदर्शन आदि अस्त्र-शस्त्रों तथा सनन्द आदि पार्षदों के साथ मान-सम्मान-पूर्वक विराजमान रहते हैं।

"हर युग में मनुष्य उस युग की आवश्यकता के अनुसार उपयोगी रूप में श्रीहरि की पूजा तथा आराधना करता है। सत्ययुग में शम, दम एवं तपस्या के द्वारा श्रीहरि की पूजा-अर्चना की जाती थी। त्रेतायुग में वेद द्वारा निर्धारित कर्मों के अनुष्ठान द्वारा भक्तगण प्रभु की पूजा-आराधना किया करते थे। द्वापरयुग में वैदिक तथा तांत्रिक मत के अनुसार परम पुरुष की आराधना होती थी। और कलियुग में संकीर्तन और नाम-यज्ञ के द्वारा उनकी पूजा होगी। परन्तु गुणीजन कलियुग की विशेष प्रशंसा करते हैं, क्योंकि इस युग में मात्र नाम-कीर्तन के माहात्म्य से मनुष्य अपनी अभीष्ट वस्तु को पा सकता है।[२] इस संसार-चक्र में भ्रमणशील मनुष्य के लिए

---

२. कलिं समा जयन्त्यार्या गुणज्ञा: सारभागिन:।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्व: स्वार्थोऽभिलभ्यते॥ ११/५/३६

(नौ योगीन्द्रों तथा राजा निमि का वार्तालाप उच्च दार्शनिक तत्त्वों से परिपूर्ण है; सामान्य पाठकों की सुविधा हेतु इसे यथासाध्य सरल तथा संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है।)

नाम-संकीर्तन से बढ़कर परम लाभकारी और कुछ भी नहीं है। नाम-गुणगान के फलस्वरूप ही मनुष्य देहत्याग के बाद अनन्त शान्ति और संसार-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है।''

नौ योगीन्द्रों से भागवत-धर्म सुनकर राजा निमि बहुत आनन्दित हुए और तदनुसार धर्म का पालन करके उनका जीवन धन्य तथा कृतकृत्य हो गया।

नारद मुनि के मुख से राजा निमि के साथ नौ योगीन्द्रों की चर्चा को सुनकर वसुदेव-देवकी ने अपने आपको भाग्यवान माना। नारद ने और भी कई सुन्दर-सुन्दर बातें कहीं। सबके अन्त में उन्होंने कहा – ''श्रीहरि आप लोगों के पुत्र के रूप में अवतरित हुए हैं। आप लोगों को अब क्या चिन्ता?''

श्रीकृष्ण-उद्धव संवाद

ब्रह्माजी देवताओं को साथ लेकर द्वारका आये। उन्होंने श्रीकृष्ण का गुणकीर्तन तथा स्तुति करने के बाद कहा – ''आप धर्म की स्थापना तथा दुराचारियों का विनाश करने के लिए इस धराधाम पर आये हैं। यदुकुल में अवतरित होने के बाद १२५ वर्ष बीत गये। आपका अभीष्ट कार्य पूरा हो चुका है। अब अपने स्वधाम को लौट चलें। अब फिर वैकुण्ठ जाकर लोकपालों तथा समस्त प्राणियों की रक्षा कीजिए।''

भगवान ने कहा – ''हे जीवेश्वर, आपकी बातें सुनीं। मैं जानता हूँ कि पृथ्वी के भार-हरण का कार्य पूरा हो चुका है और इस पृथ्वी के मेरे कार्य प्राय: समाप्त हो चुके हैं। परन्तु यदुकुल के शूर-वीर अपने ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त हो गये हैं। ये समुद्र की उत्ताल तरंगों की भाँति संसार का ध्वंस करना चाहते हैं। इस विशाल यदुवंश का विनाश किये बिना मैं स्वधाम नहीं लौट सकूँगा।''

ब्रह्माजी वापस चले गये। इसके बाद द्वारकापुरी में तरह-तरह के उपद्रव शुरू हुए। श्रीकृष्ण ने वहाँ के वरिष्ठ लोगों को बुलाकर कहा – ''हम यदि अपने प्राण बचाना चाहते हों, तो अब द्वारका में निवास करना उचित नहीं होगा। हम लोग अभी इसी समय अविलम्ब पवित्र प्रभास तीर्थ जाएँगे। प्रभास तीर्थ में स्नान आदि करके हम सारे अमंगलों से मुक्त होंगे।'' यह सुनकर सभी लोग प्रभास जाने के लिए तैयार हुए।

उद्धव श्रीकृष्ण के विशेष अनुरागी भक्त थे। वे दौड़कर उनके पास आये। उद्धव ने हाथ जोड़कर कहा – ''हे देवेश, आप ईश्वर हैं। आप में ब्रह्मशाप को नष्ट करने की शक्ति है, तो भी आपने वह नहीं किया। आपने यदुवंश का विनाश कर मर्त्यधाम से विदा लेने की व्यवस्था की है। आप मेरी आत्मा की आत्मा हैं। आपको छोड़कर मैं कैसे रहूँगा?''

भगवान बोले – ''उद्धव! तुमने सही बात कही है। ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थित जिस देवकार्य के लिए मैं इस पृथ्वी पर आया था, वह कार्य पूरा हो गया है। यदुवंश का आपसी कलह और झगड़े-तकरार से विनाश हो जाएगा और आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारका नगरी को निगल लेगा, इसलिए तुम्हारा यहाँ रहना उचित नहीं होगा। तुम स्वजनों और इष्ट-मित्रों की माया छोड़कर, अपने मन को पूर्ण रूप से मुझमें केन्द्रित करो। सर्वत्र समदर्शी होकर पृथ्वी पर विचरण करो।''

इस पर उद्धव ने कहा – ''हे योगात्मा, आप मुझे त्याग के विषय में कहते हैं। परन्तु विषयों में आसक्त लोगों के लिए कामना-वासना का त्याग करना बड़ा कठिन है। 'मैं' और 'मेरा' का बोध लेकर मैं अज्ञान में डूबा रहता हूँ। मुझे ऐसी शिक्षा दें, जिसके द्वारा मैं आपके उपदेशों का भलीभाँति अनुसरण कर सकूँ।''

भगवान बोले – ''मनुष्य स्वयं अपना उद्धार करता है। जीव की आत्मा ही उसका गुरु है।[३] आत्मा ही परम मंगल का उपाय है। इस पृथ्वी पर दो पैरोंवाले, चार पैरोंवाले, अनेक पैरोंवाले – तरह-तरह के जीव हैं। इनमें मनुष्य ही मेरा सर्वाधिक प्रिय है; क्योंकि मनुष्य ही परमार्थ की साधना में समर्थ है। इन्द्रियों के माध्यम से मेरा प्रत्यक्ष या साक्षात् अनुभव नहीं किया जा सकता। मैं समस्त तर्कों के भी परे हूँ। और मजे की बात तो यह है कि मेरे जिस भगवत्-स्वरूप को देखा नहीं जा सकता, जाना नहीं जा सकता, सभी लोग उसी की खोज में लगे हुए हैं। जो मुझे पाता है, वह परम आनन्द में स्थित रहता है।''

उद्धव-गीता

श्रीमद्-भागवत के एकादश स्कन्ध के ६ वें से २९ वें अध्याय विशेष सारगर्भित हैं। ये सुधी समाज में 'उद्धव-गीता' के नाम से सुविदित हैं। कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान ने जगत् के सभी मनुष्यों के कल्याण हेतु कर्मयोग, ज्ञानयोग, राजयोग तथा भक्तियोग के आदर्श का प्रचार किया है। उसी प्रकार अपनी मर्त्यलीला संवरण करने के पूर्व वे अपने प्रिय सखा तथा परम आत्मीय उद्धव को निमित्त बनाकर संसार के कल्याण हेतु स्वयं अपने मुख से भागवत-धर्म, प्रेम का आदर्श, शरणागति का रहस्य और गोपियों के विशुद्ध मधुरभाव की साधना के प्रसंग का प्रचार कर गए हैं। अब हम ७वें से ९वें अध्याय में वर्णित अवधूत के चौबीस गुरुओं के विषय में चर्चा करेंगे। फिर कुछ अन्य अध्यायों को संक्षेप में बताने के बाद उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण के अन्तिम उपदेश का वर्णन किया जायेगा।

❖ (क्रमशः) ❖

३. आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥ ११/७/२०

विज्ञान बनाम ईश्वर

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

आधुनिक युग विज्ञान की तुमुल प्रगति का है। आज मनुष्य विज्ञान के सहारे नई सृष्टि रच रहा है – वह नये उपग्रह बनाकर अन्तरिक्ष में छोड़ रहा है। कृत्रिम गर्भाधान तथा परखनली-सन्तान के प्रयोग भी सफल हो चुके हैं। ऐसे प्रयोग भी हो रहे हैं, जिनसे माता के गर्भ का सहारा न लेते हुए शिशु का जन्म प्रयोगशाला में हो जाय। ऐसी स्थिति में बौद्धिक वर्ग ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अत्यन्त शंकालु हो गया है। वह समझता है कि विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों ने ईश्वर के मिथ्यात्व को सिद्ध कर दिया है तथा आज ईश्वर का कोई स्थान नहीं रह गया है। परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक अपने युग की प्रगति का अवलोकन करें, तो प्रतीत होगा कि नव्यतम वैज्ञानिक अन्वेषण ईश्वर और तत्त्वज्ञान के मिथ्यात्व का बोध नहीं कराते, अपितु उसके अस्तित्व और उसकी महत्ता को ही पुष्ट करते हैं। तात्त्विक ज्ञान की दृष्टि से वेदान्त की ज्ञान-प्रणाली सर्वोकृष्ट है। वेदान्त की दृष्टि से प्रत्येक जीव ही शिव है, हर आत्मा ही परमात्मा है। अज्ञान के कारण जीव अपने ईश्वरत्व का बोध नहीं कर पाता। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य ईश्वर के समान ही सब कुछ करने में समर्थ है, उसमें अनन्त शक्ति है। हाँ, उसे इस शक्ति के प्रकटन का उपाय जानना चाहिए।

मनुष्य दो स्तरों पर कार्य करता है - शरीर के स्तर पर और मन के स्तर पर। यदि वह अज्ञान के बन्धनों को काट सके, तो वह दोनों धरातलों पर असीम शक्ति सम्पन्न हो जाएगा। शरीर भौतिक धरातल है और इसी पर विज्ञान की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। यह जो मनुष्य नई सृष्टि रच रहा है, उपग्रह बना रहा है, यह इसी सत्य की पुष्टि करता है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति है - जैसे बाहरी जगत् के सन्दर्भ में, वैसे ही भीतरी या अध्यात्म जगत् के सम्बन्ध में भी। यदि किसी दिन गर्भ के बाहर प्रयोगशाला में शिशु का जन्म हो गया, तो उससे ईश्वर को कोई आँच नहीं आती, बल्कि उससे मनुष्य का ईश्वरत्व ही सिद्ध होता है।

गड़बड़ी इसलिए उत्पन्न होती है कि हम ईश्वर को व्यक्ति विशेष समझते हैं और उसके सम्बन्ध में कल्पना करते हैं कि वह कहीं विराजित होगा और वहाँ से विश्व का काम-काज चला रहा होगा। ईश्वर वास्तव में ऐसा नहीं है। वह तो विश्व में सर्वत्र व्याप्त नियम है, अथवा आइंस्टीन की भाषा में कहें तो महत् बुद्धि है। जैसे धर्म इस 'महत् बुद्धि' अथवा 'सर्वव्यापी नियम' की खोज है, उसी प्रकार विज्ञान भी इसी की खोज है। नयी सृष्टि बनाने अथवा उपग्रह रचने अथवा प्रयोगशाला में शिशु उत्पन्न करने के मिस से वास्तव में विज्ञान उस अनुस्यूत नियम या 'महत् बुद्धि' को पकड़ना चाहता है। जिस दिन वैज्ञानिक उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ लेगा, उस दिन वह ईश्वर ही हो जायेगा। धर्म भी ठीक यही बात करता है। यहाँ धर्म का तात्पर्य वेदान्त से है।

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर पता चलता है कि विज्ञान और ईश्वर में कोई विरोध नहीं है। विज्ञान का अर्थ उसके आविष्कारों से नहीं लगाना चाहिए। उपग्रह, कृत्रिम गर्भाधान अथवा गर्भ के बिना उत्पन्न शिशु – ये विज्ञान नहीं हैं, ये विज्ञान के चमत्कार हैं। ज्ञान की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति को विज्ञान कहते हैं। जब हम इन्द्रियग्राह्य जगत् को छानबीन का विषय बनाकर उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ने जाते हैं, तो वह 'विज्ञान की प्रणाली' कहलाता है। और जब मन को खोज का विषय बनाकर उस ओर बढ़ते हैं, तो वह 'धर्म की प्रणाली' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य का ईश्वरत्व अकाट्य है। इसी अर्थ में वेदान्त कहता है कि मनुष्य ही ईश्वर है। केवल अज्ञान की परतें खुलनी है कि वह छिपा हुआ ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है। विज्ञान उत्तरोत्तर मनुष्य के इसी ईश्वरत्व को उद्घाटित कर रहा है। ❑❑❑

आत्माराम के संस्मरण (९)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: अपने जीवन के कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ घटनाएँ प्रकाशित हुई हैं और कुछ नयी – अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ भिन्न रूप में लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। अनुवादक तथा सम्पादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

बीजापुर से किष्किन्धा की ओर

संन्यासी भ्रमण करते हुए किष्किन्धा की ओर चला जा रहा था। मार्ग में (बीजापुर में) एक खाकी बाबा के साथ भेंट हुई। वे भी वहीं जा रहे थे। बोले कि सड़क से होकर जाने पर दूर पड़ता है, जंगल के मार्ग से काफी निकट पड़ेगा और रास्ता उनका जाना हुआ भी है। अच्छा ही हुआ। वे जंगल के मार्ग से रास्ता दिखाते हुए ले चले। खाकी लोग रामानन्द सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। ये लोग कठोर तपस्वी होते हैं, शरीर पर राख मले रहते हैं – कोई अन्य आवरण नहीं रखते, केवल कौपीन धारण करते हैं। ये साधु बड़े ही सेवाभावी और मिलनसार थे।

जंगल के बीच एक अच्छा-सा गाँव पड़ा – काफी बड़ा और समृद्ध। बगीचे, खेत और मकान भी बड़े-बड़े थे। गाँव के बाहर ही एक बहुत बड़ा कुँआ था। बहुत-से लोग पानी ले रहे थे। सम्भवत: उनमें कन्नड़ लोग ही अधिक थे, मराठी भी थे। गाँव शायद कर्नाटक के भीतर था।

दिखने में बड़े भद्र एक सज्जन घड़ा लिये पानी भरने आये। खाकी तथा संन्यासी ने भी पानी लिया। उन्होंने ही निकालकर भर दिया था। इसके बाद हमारे गन्तव्य की बात जानकर बोले – "आज यहीं पर भिक्षा ग्रहण कीजिये, समय भी हो गया है। मेरे बड़े भाई भी साधु हैं, आये हुए हैं, अच्छा सत्संग होगा।"

अपने घर ले गये। साधु के साथ भेंट हुई। देखने में अच्छे-खासे थे। संन्यासी को देखकर बड़े खुश होकर बोले – "आज यहीं रह जाइये, रात में निश्चिन्त भाव से बातचीत होगी। यह मेरा छोटा भाई है। मैं मुम्बई विश्वविद्यालय का ग्रेजुएट हूँ। वैराग्य का पथ अपनाया है। जमीन-जायदात सब इसके नाम करने आया हूँ। वैराग्य के पथ में ही अभय है और अद्वैत में भय नहीं है। आपका क्या कहना है?"

संन्यासी – "परन्तु द्वैत के बोध को दूर करना क्या अत्यन्त कठिन नहीं है?" आदि आदि।

भोजन आदि करते तीन-साढ़े तीन बज गये। ग्रामीण अंचल में शायद ऐसा ही होता है। वैसे सर्वत्र एक से डेढ़ बजे तक हो जाता है। रात के शयन हेतु उन्हीं के कमरे में उनकी शय्या के बगल में ही संन्यासी के लिये भी स्थान हुआ। खाकी बाबा के लिये अन्यत्र व्यवस्था हुई थी।

थोड़ी देर 'राजयोग' पर चर्चा चली। उसके बाद उन्होंने हिमालय में जाने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने पूछा कि तपस्या के लिये अनुकूल स्थान कहाँ-कहाँ है! संन्यासी को जितना ज्ञात था, बता दिया। इसके बाद पूछा कि हिमालय में जाने पर क्या किसी महापुरुष – सच्चे आत्माराम योगी का साक्षात्कार मिल सकेगा? उन्होंने जानना चाहा कि संन्यासी को उस तरह के किसी महात्मा का दर्शन मिला है क्या?

इसके बाद संन्यासी ने पूछा कि आपको किसके पास से 'भेख' मिला है? अर्थात् किससे साधु या त्याग का चिह्न – गेरुआ वस्त्र प्राप्त किया है? वे कर्नाटक के ही एक प्रसिद्ध महात्मा का नाम लेकर बोले – "मैंने जिस उद्देश्य से उनका आश्रय लिया था, वैसा कुछ हो नहीं रहा है। वे महान् सिद्ध पुरुष तो हैं, परन्तु उनका सारा समय लोगों के भौतिक दु:ख दूर करने में ही व्यतीत होता है – नीरोग होने के लिये मंत्रित ताबीज देना, मन्नत कराना, दाम्पत्य जीवन में सुख हेतु अनुष्ठान कराना, सन्तान के इच्छुकों के लिये मंत्रक्रिया, औषधि या विशेष देवाराधना का निर्देश देना, मुकदमे में जीत हो, इसके लिये मंत्रित ताबीज आदि देना – इन्हीं सब में वे व्यस्त रहते हैं। आध्यात्मिक कल्याण हेतु सहायता करने या प्रेरणा देने के लिये उनके पास समय बिलकुल भी नहीं है। धन की काफी आमदनी है, एक लाख से भी अधिक रुपये आते हैं, परन्तु मैंने इन सबके लिये थोड़े ही जाकर वैराग्य का पथ अंगीकार किया था। मेरी अपनी ही जो सम्पत्ति है, वह पूरे जीवन निश्चित भाव से बैठकर खाने के बाद भी समाप्त नहीं होगी। फिर विद्या भी है; उसके द्वारा भी उपार्जन कर सकता हूँ। इसीलिये सोचता हूँ कि हिमालय चला जाऊँगा और किसी सच्चे त्यागी संन्यासी की शरण लूँगा। इनका त्याग कर दूँगा। मैं इनका बड़ा चेला – प्रधान शिष्य हूँ, परन्तु मुझे ऐश्वर्य की इच्छा नहीं है। मैं तो आध्यात्मिक ऐश्वर्य चाहता हूँ। इसमें यदि आप थोड़ी सहायता कर सकें। तो ..."

संन्यासी – "आपके वैराग्य की तीव्रता देखकर मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ। सचमुच ही आप दुर्लभ सम्पदा के अभिलाषी हैं। आप धन्य हैं! लोग सिद्धाई ही चाहते हैं और अनेकों प्रकार के कामना-वासनाओं में डूबे रहते हैं। उस प्रकार के लौकिक हित ही उनके काम्य होते हैं, इसीलिये इसमें व्यक्ति का कोई दोष नहीं है। परन्तु – बुरा मत मानियेगा – आप जब उनके पास गये, तब भी तो वे इसी प्रकार अपनी सिद्धियों के लिये ही विख्यात थे। अब आप जो विचार कर रहे हैं, वैसा उस समय क्यों नहीं किया?"

वे – "हाँ, उस समय ठीक से समझा नहीं था। परन्तु रामकृष्ण परमहंस की पुस्तक पढ़ने के बाद आँखें खुल गयीं। तब सब कुछ समझ में आ गया।"

संन्यासी – "अच्छा हुआ, पर गुरुत्याग तो निन्दनीय है। लौकिक पिता के समान ही वे धर्मपिता होते हैं। जिन्हें देव-साक्षी बनाकर ग्रहण किया गया है, उन्हें पूरी तौर से भूला या छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु यदि निकट रहना असम्भव हो जाय, या हो चुका है – ऐसा प्रतीत होता हो, तो दूर रहने से ही काम हो जायेगा। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य - देवो भव – उपनिषदों की यह भावना तो आपको ज्ञात ही है। वही दृष्टि बनी रहे, यही उचित है। इसीलिये मुझे लगता है कि कुछ दिन दूर रहिये। हिमालय के हरिद्वार, ऋषीकेश या भारत में अन्यत्र कहीं भी गुरुवत् श्रद्धेय अनेक महापुरुष मिलेंगे, पर उनका त्याग किये बिना ही आप इनकी सहायता ले सकते हैं। उन्होंने जो मंत्र दिया है, वह शास्त्रीय ही तो है, अत: स्वचेष्टा से भी आत्मसिद्धि मिल सकती है! भूतकाल के महापुरुषों के प्रति श्रद्धा रखने और उनके उपदेशों पर चलने से भी ज्ञानलाभ हो सकता है। यदि व्यक्तिगत सम्पर्क सम्भव न हो, तो भी यह सम्भव हो सकता है। इसमें कोई बाधा नहीं है। एकलव्य का दृष्टान्त बड़ा सुन्दर है। वह क्या मात्र श्रद्धा के बल पर धनुर्विद्या में कुशल नहीं हुआ था?"

वे – "हाँ, ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं। आपके साथ यह भेंट बड़ी प्रेरणादायी सिद्ध हुई। किष्किन्धा जाने के लिये कोई इस मार्ग से तो आता नहीं है! मेरे भीतर कैसा भयानक द्वन्द्व चल रहा था, इसे कहकर नहीं समझाया जा सकता। संशय मेरे अन्तर का दहन कर रहा था, परन्तु आपकी बातें सुनने के बाद वह पूरी तौर से शान्त हो गया। आप ठीक कह रहे हैं। मुझे रास्ता मिल गया है। मैं कुछ दिन हिमालय में जाकर रहूँगा, कुछ दिन उनसे दूर रहूँगा।"

संन्यासी – "और अपने गुरुदेव को श्रद्धापूर्वक अपने इस संकल्प की बात सूचित करके जायेंगे! यह अंचल बड़ा ही मनोरम है, स्वास्थ्यकर भी है। इधर ही कहीं – गाँव से दूर अपने पसन्द के स्थान में एक कुटिया बनवाकर तपस्या में लग जाइये न! शरीर इसी तरफ का है – भोजन आदि यदि अभ्यस्त अन्न का हो, तो देहयंत्र ठीक रहता है। मैंने देखा है कि हिमालय के वर्षा का जल बहुत-से लोगों को सहन नहीं होता। लोग बीमार भी पड़ जाते हैं। इसीलिये एक बार उधर घूमकर लौटने के बाद इधर ही कहीं स्थिर होकर बैठ जाने से – मुझे लगता है – अच्छा रहेगा।"

वे – "यह बात अच्छी है। ऐसा ही करूँगा। एक बार वह सब देख आऊँ, उसके बाद ...।"

संन्यासी – "हाँ, पहले बहूदक, उसके बाद कुटीचक।"

इसी प्रकार काफी रात तक चर्चा होती रही।

सुबह फिर हिमालय पर बातें हुईं। उस समय उनके छोटे भाई भी उपस्थित थे। संन्यासी ने उनसे कहा – "इनको कहा है कि उधर से घूमकर लौटने के बाद इधर ही कहीं रहें।"

भाई – "ये इधर जहाँ भी कहेंगे, आश्रम बनवा दूँगा और मैं स्वयं भी इनकी सेवा करूँगा।"

उनके आग्रह पर अगले दिन भी भिक्षा ग्रहण करने के बाद ही संन्यासी किष्किन्धा के पथ पर रवाना हुआ।

किष्किन्धा के अनुभव

किष्किन्धा के रास्ते में एक विशाल बाँध और सरोवर है। सम्भवत: वर्षा काल होने के कारण उसमें खूब पानी था। उस बाँध के पास ही एक गाँव है। किष्किन्धा की दूरी वहाँ से ३-४ मील ही होगी। इस गाँव में 'सीधा' सदाव्रत मिलता है। किष्किन्धा जानेवाले हर साधु-यात्री को कुछ अन्न दिया जाता है। संगी खाकी बाबा सब जानते थे।

वे बोले – "किष्किन्धा के राम-मन्दिर के पुजारी लोग कभी-कभी साधुओं को तंग करते हैं, अन्न नहीं देते, अत: यहीं के सदाव्रत से ले जाना अच्छा है।" संन्यासी ने कहा कि वह तो इस तरह माँगने नहीं जाता। उन्होंने संन्यासी से एक गेरुआ वस्त्र (जो काफी मोटा था और गमछे का काम देता था) माँग लिया और बोले – "आप इस जलाशय के किनारे बैठिये, मैं आता हूँ।" वे गाँव में जाकर अपने लिये और संन्यासी के लिये भी सदाव्रत – आटा, चावल, दाल, मसाला, नमक, जरा-सा घी (चवन्नी भर होगा) ले आये।

श्रीराम ने जिस पहाड़ पर निवास किया था, उसी पर राम -मन्दिर स्थित है। बिना किसी मसाले, सीमेंट या चूने आदि के ही उसके दीवाल तथा परकोटे के पत्थरों को सजाकर आपस में जोड़ा गया है। पत्थरों को घिस-घिसकर सुन्दर सुडौल बनाकर उन्हें एक-पर-एक सजाकर काफी मजबूती से गाँथ दिया गया था, जो इतने वर्षों के बाद अब भी खड़ा है।

अपराह्न के समय में मन्दिर में पहुँचते ही खाकी बाबा बोले – "आप सामान सँभालिये, यहाँ बन्दर हैं। मैं भोजन

बनाने के लिये कण्डों या लकड़ियों की व्यवस्था करने जाता हूँ। पत्थर का विशाल मण्डप था। दो अन्य वैरागी साधु भी आये थे। वे लोग बैठे-बैठे चावल-दाल साफ कर रहे थे। वे लोग पास ही आसन जमाकर बैठे थे।

संन्यासी ने देखा कि मण्डप में सामने ही सूखे हुए गोबर की चिपरियाँ बिखरी पड़ी हैं। उसमें भी औचित्य बुद्धि जाग उठी और वह उनमें से एक वैरागी को अपनी पोटली पर नजर रखने को कहकर चिपरियाँ उठाने चला गया। इसी बीच एक बन्दर आकर सीधे की उस पोटली को लेकर सीधा छत के ऊपर चला गया। "अरे, तुम लोगों की पोटली बन्दर ले गया।" – कहकर वे दोनों वैरागी निर्विकार भाव से अपना चावल-दाल साफ करते रहे।

अब क्या उपाय किया जाय? खाकी बाबा तो नाराज होंगे ही, दोनों को भूखे भी रहना पड़ेगा। हे भगवान ! तुम्हारे बन्दरों के अत्याचार ने तो संन्यासी को बड़े संकट में डाल दिया है। देखा – परकोटे की दीवार एक जगह टूटी हुई है। उसके ऊपर चढ़ पाने से मण्डप की छत पर पहुँचा जा सकता था। बस, संन्यासी ने कुछ पत्थर और बगल में लाठी लिये बड़े कष्टपूर्वक मण्डप की छत पर चढ़ गया। वहाँ बहुत-से बन्दर एकत्र होकर उस पोटली को लेकर शोरगुल मचा रहे थे और आपस में खींचातानी कर रहे थे। कोई-कोई उसे दाँतों से फाड़ने का भी प्रयास कर रहा था। एक-एक कर पत्थर फेंककर मारने पर सारे बन्दर पोटली को छोड़ एक ओर खिसक गये। संन्यासी ने वहाँ पहुँचकर देखा कि कपड़ा मजबूत होने के कारण ही नुकसान अधिक नहीं हुआ है। दातों को गड़ाने से केवल दो-एक छेद हुए हैं और उनसे होकर बस थोड़ा-सा आटा गिर गया है। जय भगवान ! तुमने अच्छा बचाया। संन्यासी ने सोचा कि इस त्रुटि के लिये वह क्षमा माँगकर उपवास कर लेगा। दोष भी उसी का तो था। भले ही उसके मूल में औचित्य बुद्धि रही हो, परन्तु इस प्रसंग में वह सम्भव नहीं भी हो सकता था।

मैं ज्योंही गया था, त्योंही खाकी बाबा भी आ पहुँचे थे। दोनों वैरागियों ने बता दिया कि पोटली को बन्दर ले गया है और इसीलिये संन्यासी भी छत के ऊपर गया है। खैर, संन्यासी ने पोटली को उनके सामने रखते हुए सारी बातें सूचित कीं और क्षमा-प्रार्थना करते हुए बोला – "थोड़ा-सा सामान था, उसमें से बन्दर ने जरा-सा बरबाद किया है। सो इसे आप ही रखिये। मैं एक रात उपवास कर लूँगा।" खाकी बाबा बड़े नाराज तो हुए, परन्तु क्रोध को खूब दबाकर केवल इतना ही बोले – "आपको तो पहले कहा था, तो भी आप क्यों गये?"

इसके बाद वे उन्हें साफ-सूफ करने बैठे। आग जलाकर दाल के लिये लोटे में पानी बैठा दिया। ओ माँ ! चने के दाल का करीब हर दाना ही आधा कीड़ों का खाया हुआ था, एक भी साबुत नहीं था। चावलों को ज्योंही एक कटोरे में भिगाने को डाला गया, त्योंही उसका तीन-चौथाई भाग तैर उठा। सब कीड़ों ने खाकर खोखले कर दिये थे। इसके सिवा हल्दी के दो टुकड़े थे। वे भी काले हो गये थे। शायद सड़ गये थे। मिर्च भी सड़ी हुई थी। नमक गन्दा था। परन्तु खाकी बाबा ने निर्विकार चित्त से उन सब को थोड़ा-थोड़ा साफ करके दाल के साथ एक पत्थर पर पीस लिया। उसके बाद लोटे में डाल दिया। और आटे के चार लड्डू बनाकर कण्डी की आग में रख दिया। इसी को उत्तर-प्रदेश, राजस्थान आदि में 'लिट्टी' या 'बाटी' कहते हैं। ठीक से पक जाने के बाद, उसे घी से चुपड़ देने पर बड़ा अच्छा लगता है। घी न हो, तो दाल के साथ भी खाया जा सकता है। (बरतन उन दोनों वैरागियों के थे।) भोजन हुआ, फिर थोड़ी देर विश्राम करने के बाद संध्या-आरती का दर्शन किया गया। मानो बेगारी कर रहा हो, बिल्कुल निष्प्राण ! अच्छा नहीं लगा।

अगले दिन संन्यासी मातंग पर्वत आदि का दर्शन करने हेतु चक्रतीर्थ की ओर चला। खाकी बाबा बोले कि वह सब उनका अनेकों बार दर्शन हुआ है, वे दूसरी ओर जायेंगे। मातंग ऋषि की पहाड़ी काफी ऊँचाई पर है। छोटा-सा 'डेरा' और मन्दिर है। रामायण में लिखा है कि उनका अभिशाप होने के कारण बालि उस पहाड़ पर नहीं जा सकता था। संन्यासी ने वहाँ जाकर देखा कि कोई वहाँ एक टुकड़ा नारियल चढ़ा गया है। वहाँ और कुछ नहीं था। एक पत्थर पर काला रंग लगा हुआ था, इसके अतिरिक्त कोई मूर्ति आदि नहीं थी। भूख से पीड़ित होने के कारण उसने उस नारियल को ही ग्रहण किया।

उसके बाद चक्रतीर्थ – हम्पीश्वर गया। सुन्दर चक्राकार में नदी बही जा रही थी। ... दूसरी ओर नीला पहाड़ थी और उसके पीछे भी पर्वत-श्रेणियाँ थीं। वहाँ की दृश्यावली किसी बड़े यत्नपूर्वक अंकित चित्र के समान थी।

संन्यासी नदी में स्नान करने के बाद एक स्वच्छ पत्थर के ऊपर बैठकर उस मनोरम दृश्य का अवलोकन कर रहा था। दोपहर का समय था। नदी के तट पर ही रामानुज सम्प्रदाय का मठ या आश्रम था। वे लोग भोजन आदि करने के बाद जूठे पत्ते आदि फेंकते समय संन्यासी की ओर अंगुली से निर्देश करते हुए कुछ बोल रहे थे।

उस आश्रम से ही निकलकर एक वृद्धा ने संन्यासी की ओर देखा और उसके पास आकर अपनी भाषा (कन्नड़) में कुछ कहने लगी। दो-एक शब्द पकड़ में आने से संन्यासी ने समझ लिया कि पूछ रही है – भिक्षा हुई है या नहीं? संकेत से "नहीं" कहने पर वृद्धा पुन: उस आश्रम में गयी और एक नारियल लाकर श्रद्धापूर्वक संन्यासी को अर्पित किया। भूख

भी खूब लगी थी। संन्यासी ने नारियल को पत्थर के ऊपर फोड़ा और उसी को चबा-चबाकर भूख मिटायी। इसके बाद वह हम्पेश्वर के दर्शनार्थ गया, परन्तु मन्दिर बन्द हो चुका था। एक पुजारी ने कहा – घण्टे भर बाद खुलेगा। फिर पूछा – आप तो संन्यासी दिख रहे हैं, भिक्षा आदि हुई है क्या?'' संन्यासी – ''अन्न तो नहीं मिला, परन्तु एक वृद्धा ने एक नारियल दिया था। वही खाया है।'' पुजारी – ''यहाँ सदाव्रत है, परन्तु वह केवल सुबह एक बार दिया जाता है। रहेंगे, तो कल सुबह मिल सकेगा। यहाँ के वैष्णव लोग संन्यासियों से घृणा करते हैं, खाना नहीं देते; इसीलिये शैव संन्यासियों के लिये इस मन्दिर में सदाव्रत की व्यवस्था है।

हम्पी में महादेव हम्पीश्वर का मन्दिर है। कोई कहता है कि राजा बालि ने इसकी स्थापना की थी और कोई-कोई इसे विजयनगर के राजाओं द्वारा स्थापित बताते हैं। बालि का राजभवन देखकर हँसी आ गयी। मूलत: यह विजयनगर के राजाओं की ही कृति है। पण्डे लोग सुग्रीव के साथ उसकी लड़ाई का स्थान – पत्थरों की जुड़ाई से बना हुआ आंगन दिखाते हैं। दूर एक ताड़ का पेड़ है। उसे दिखाकर कहते हैं – ''राम ने उसी के पीछे खड़े होकर बाण मारा था।'' उन्हें सात-आठ हजार वर्षों की गणना करने की जरूरत नहीं महसूस होती। यात्री लोग भी यह सब देखकर और पैसे देकर चले जाते हैं।

होसपेट की ओर

अपराह्न में सहसा पेट में गड़गड़ाहट होने पर शौच जाकर देखा – सफेद आँव पड़ रहा था। दस मिनट होते-न-होते एक बार फिर और उसके बाद तो दस्त का सिलसिला ही चल पड़ा। संन्यासी समझ गया कि नारियल और बरसाती नदी के जल के कारण पेचिश का रोग हो गया है। इसलिये वह अविलम्ब होसपेट की ओर चल पड़ा। मार्ग में बारम्बार शौच होता रहा। कुछ काल बाद खूनी आँव भी पड़ने लगा।

रात को लगभग आठ बजे होसपेट नगर के बाहरी भाग में पहुँचकर एक धर्मशाले में आश्रय लिया। हालत देखकर पहरेदार ने थोड़ी दया दिखायी। भीतर एक खुला बरामदा था। उसके सामने बावड़ी जैसा कुँआ था, सीढ़ियाँ उतरकर पानी लेना पड़ता था। और घिरी हुई खुली जगह थी, जो मैदान के लिये काम आती थी अर्थात् धर्मशाले के लोग शौच आदि के लिये जाया करते थे। इससे सुविधा ही हुई। सारी रात शौच बन्द नहीं हुआ। शरीर इतना दुर्बल हो गया था कि सिर चक्कर खा रहा था। संन्यासी बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार शौच जा पा रहा था।

सुबह सात-आठ बजे ग्वालियर की ओर का एक भिक्षुक आकर हाजिर हुआ। वह सारंगी बजाकर, भजन गाकर भिक्षा माँगा करता था। उसने अपनी पोटली और वाद्ययंत्र को वहाँ रखकर स्नान आदि निपटाया। उसके बाद उसने संन्यासी से पूछा – ''क्या बीमारी हुई है?'' सब सुनकर बोला – ''चिन्ता मत कीजिये। मैं बाजार से आता हूँ, उसके बाद भोजन तथा औषधि – दोनों की व्यवस्था करूँगा। यह धर्मशाला लिंगायत सम्प्रदाय की है। ये लोग बड़े कट्टर हैं, अन्य सम्प्रदाय के लोगों को नहीं ठहराते, परन्तु चौकीदार उत्तर भारतीय तथा उदार है, इसीलिये आपको तथा मुझे भी स्थान दिया है।''

वह अपना सामान वहीं रखकर संन्यासी से देखने को कह गया और करीब दो घण्टे के बाद लौटा। आग जलाकर एक बर्तन में खूब मिर्च के साथ ''भाँग'' चढ़ा दिया। एक छोटे बर्तन में भात भी पकाया। भोजन बनते ही पहले संन्यासी को खाने के लिये दिया। – ''यह क्या? यह खाने से तो जान चली जायेगी। खूनी पेचिश जो हुआ है!'' वह बोला – ''कुछ नहीं होगा। आप खाइये।''

संन्यासी इतना दुर्बल महसूस कर रहा था कि पेट में कुछ अन्न डालना अत्यन्त आवश्यक बोध होने के कारण राजी हुआ। यह सोचकर कि यदि बहुत हुआ, तो देहपात् हो जायेगा और सारी पीड़ाओं का अन्त भी हो जायगा। वह मिर्च से लाल ''भाँग'' का झोल और भात खाने के लिये ले आया। वह ''भाँग'' का झोल मुख में डालने पर बड़ा विचित्र लगा। खाने के बाद ही दो-तीन बार दस्त हुआ। उसके बाद थोड़ी देर से, फिर और भी देर से दो-तीन दस्त हुए। देखा कि सचमुच ही खून का हिस्सा कम हो गया है। और शरीर में भी थोड़े बल का संचार हुआ है। रात में दो-एक बार शौच हुआ और थोड़ी नींद भी हुई। इसके फलस्वरूप अगले दिन संन्यासी काफी स्वस्थ महसूस करने लगा। उस दिन दही-भात बनाकर खिलाया। तकलीफ काफी कम हो गयी थी। तीसरे दिन सहज दस्त हुआ। (बाद में पता चला कि कैप्सीकम अर्थात् मिर्च पेचिश की एक अच्छी दवा है।)

वे संन्यासी के लिये चावल आदि एक वकील सज्जन से माँगकर ले आते थे। उन्हीं सज्जन ने बेल्लारी जाकर चिकित्सा कराने को कहा और एक टिकट भी कटा दिया।*

* द्र. मानवता की झाँकी, नागपुर, सं. २००६, पृ. २९-३१, लेख – भिक्षुक की हृदयवत्ता।

❖ (क्रमशः) ❖

चरित्र ही विजयी होता है (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रतिवर्ष की भाँति २००५ में भी रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने 'सन्त गजानन अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव (महाराष्ट्र)' के अनुरोध पर विद्यार्थियों के लिये 'व्यक्तित्व-विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर कार्यशाला का संचालन किया था। उनके इस महत्वपूर्ण व्याख्यान को उपरोक्त संस्थान ने 'Character Wins' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। सबकी उपयोगिता की दृष्टि से उसे 'चरित्र ही विजयी होता है' इस शीर्षक से हम 'विवेक ज्योति' में प्रकाशित कर रहे हैं। इसका हिन्दी अनुवाद और सम्पादन रायपुर आश्रम के ही स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

३. चरित्र का निर्माण कैसे करें?

अब हम इन महापुरुषों के चरित्र के मूल तत्त्वों की परीक्षा करें और यह समझने का प्रयास करें कि उनके चरित्र की मौलिक विशिष्टतायें क्या थीं। यदि हम इनके चरित्र का निकटता से परीक्षण करें, तो हम पायेंगे कि उन सबमें अद्भुत आत्मविश्वास था। ठीक वैसे ही, वे अपने शक्तिशाली अजेय नैतिक और दैवी शक्ति पर भी विश्वास करते थे। दूसरे शब्दों में उन्हें अपने आप में अद्भुत विश्वास था। दूसरी विशिष्टता हम उनमें पाते हैं कि उन सबको किसी दिव्य शक्ति पर दृढ़ विश्वास था, सामान्यत: जिसे हम ईश्वर, गॉड, अल्लाह, ब्रह्म, परमात्मा आदि कहते हैं। वे सभी विश्वास करते थे कि एक ऐसी शक्ति है, जो सर्वदा अच्छे और परोपकारी, कार्यों में सहायता करती है। तीसरी विशिष्टता है, वे सभी विश्वास करते थे कि अन्त में सत्य की ही विजय होती है – **सत्यमेव जयते**। उन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी सत्य को दृढ़तापूर्वक पकड़े रखा। वे किसी भी मूल्य पर सत्य से नहीं डिगे। उन्होंने सत्य के साथ कभी भी, किंचित् मात्र भी समझौता नहीं किया। चौथी विशिष्टता है, जब हम उनके जीवन के आचरण की ओर देखते हैं तथा उसका परीक्षण करते हैं, तब पाते हैं कि उनलोगों ने दृढ़तापूर्वक पवित्र और नैतिक जीवन-यापन किया। वे लोग पूर्णरूपेण नैतिक थे। पाँचवी विशिष्टता, हम उनके दैनिक व्यवहार में पाते हैं कि उन लोगों का अपनी इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण था। दूसरे शब्दों में, वे लोग अपने मन और इन्द्रियों के स्वामी थे। आत्मसंयम की इस प्रचण्ड शक्ति के कारण आन्तरिक या बाह्य कोई भी प्रलोभन उन्हें विचलित नहीं कर सका। न कोई विपत्ति और न ही कोई भय, उन्हें उनके आदर्श से विचलित करने में समर्थ हुआ। वे लोग निर्भीक और वीर पुरुष थे। उनके जीवन के चरित और आचरण से यह समझ में आता है कि उनमें निस्वार्थ-परायणता, यह गुण विद्यमान था। सभी महान् चरित्र वाले व्यक्तियों ने सर्वदा और सभी देश-काल में अपने हृदय से स्वार्थ का पूर्णत: परित्याग कर दिया था। उनका जीवन केवल परोपकार के लिये था, दूसरों के हित के लिये था। उनका जीवन लिंग, जाति, वर्ण से निरपेक्ष पिछड़े और गरीबों की सेवा के लिये था। वर्तमान समय में भगवान श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द एवं उनके गुरुभाई गण इस महान् आदर्श मानव-चरित्र के जाज्वल्यमान दृष्टान्त थे।

४. मनुष्य स्वयं अपने चरित्र का निर्माता है।

जब हम इन महान् चरित्रवाले व्यक्तियों की तुलना साधारण लोगों से करते हैं, तब इनके चरित्र में असंख्य भिन्नतायें पाते हैं। हर व्यक्ति के चरित्र में एक-दूसरे से अगणित भिन्नतायें हैं। विभिन्न प्रकार के लोगों के चरित्र की इन भिन्नताओं की हम कैसे व्याख्या करें? हमारे शास्त्र, भारतीय ऋषि और सन्त हमें बताते हैं कि संसार में हमारा जन्म हमारे पूर्व जन्मों के अनेकों कर्मों के परिणामस्वरूप हुआ है। जैसा कि, प्रकृति का नियम अटल है, वैसे ही नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के नियम भी अटल हैं। वे भी समान रूप से अटल हैं। चाहे हम इसे जानें या न जानें, अधिकांशत: किसी व्यक्ति के जीवन में सुख-दुख के रूप में नैतिक और आध्यात्मिक नियम परिलक्षित होते हैं।

हम इस तथ्य की व्याख्या कैसे कर सकते हैं? जब हम देखते हैं कि एक बच्चा जन्मान्ध है या एक बच्चा जन्म से गूँगा और बहरा है? कैसे जब कोई दूसरा अति सम्पन्न परिवार में जन्म लेता है, जबकि वहीं दूसरा बच्चा कभी-कभी अपनी माँ के दूध के लिये भी तड़पकर भूखों मर जाता है? कैसे हम व्याख्या करें, जब एक व्यक्ति दिन-रात संघर्ष करके बड़ी कठिनाई से दो समय का भोजन प्राप्त करता है, कभी-कभी तो उसे एक या दो समय भोजन नहीं भी मिलता है, जबकि दूसरा व्यक्ति अनेकों सुस्वाद भोजन-सामग्री पर्याप्त मात्रा में खाता है – मानो वह सुस्वाद भोजन के ढेरों पर लोटता रहता है और यह समझ नहीं पाता कि इतने अधिक अतिरिक्त भोजन-सामग्री का क्या करूँ?

एक व्यक्ति लगभग रोगी ही जन्म लेता है और जीवन भर रोगी ही रहता है। जबकि दूसरा व्यक्ति बचपन से ही स्वस्थ और निरोगी जीवन यापन करता है। इसका क्या कारण है? इस विभिन्नता और विषमता का क्या कारण है? हमारे शास्त्र और ऋषि-मुनि हमें बताते हैं कि इस विषमता का कारण हमारे पूर्व जन्मों के अपने किये हुये संचित कर्म हैं। हिन्दू जीवन दर्शन में इसे 'कर्म का सिद्धान्त' कहते हैं।

जो हम बोते हैं, वही काटते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा जीवन हमारे पूर्व कर्मों का परिणाम है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि हम भविष्य में जो कुछ भी होंगे, वह हमारे वर्तमान कर्मों के द्वारा ही निश्चित होगा। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य न केवल अपने चरित्र का निर्माता स्वयं है, अपितु अपने भाग्य का भी स्वयं निर्माता है।

५. प्रारम्भिक सोपान

हमने देखा है कि कार्य-कारण का सिद्धान्त अन्तर्प्रकृति में भी समान रूप से कार्य करता है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं, जैसा तुम सोचोगे, वही हो जाओगे। संसार के महापुरुष हमें बताते हैं कि विचार मनुष्य के अधिकार क्षेत्र की सबसे बड़ी शक्ति है। किसी व्यक्ति के जीवन के निर्माण या विनाश में विचार एक बहुत बड़ा कारण है। विचार किसी व्यक्ति को पिशाच या देवता बना सकता है। व्यक्ति ठीक वही हो जाता है, जैसा वह सोचता है, जैसा वह जाने या अनजाने दीर्घकाल तक अपने मन में उन विचारों का पोषण करता है। यदि कोई व्यक्ति हताशा, निराशा और हार-पराजय के विचारों का पोषण करता है, तो वह निश्चित ही पराजित होगा। भले ही वह बाहर से सफलता के लिये कार्य करता दीख पड़ता होगा, लेकिन यदि वह अपने विचारों में सकारात्मक परिवर्तन नहीं लाता है और अपने हृदय के अन्तस्तल से सफलता का चिन्तन प्रारम्भ नहीं करता है, तो वह पराजित होगा ही। यह सिद्धान्त हमें स्पष्ट दिखाता है कि हमारे विचार ही हमारा निर्माण या विनाश करते हैं ?

६. आइये ! अपने मन का निरीक्षण करें

हमने देखा है कि यह एक अटल नियम है – "विचारों की शक्ति हमारे जीवन का निर्माण या विनाश कर सकती है।" इसलिये जिन विचारों का हम चिन्तन करते हैं, उनके प्रति हमें विशेष सावधान रहना चाहिये।

इसे कैसे किया जाय? अपने मन का निरीक्षण करने का सबसे अच्छा उपाय है कि हम आत्मनिरीक्षण की आदत का विकास करें और सदैव सचेत रहकर मन का निरीक्षण करें। जैसे एक संतरी फौजी-छावनी से अन्दर-बाहर आने-जाने वाले सभी व्यक्तियों पर दृष्टि रखता है, उसी प्रकार हमें भी अपने मन में आने-जाने वाले विचारों के प्रति प्रमादरहित तथा सावधान रहना चाहिये। जैसे ही हमें ज्ञात हो कि कोई अवांछनीय विचार हमारे मन में उदित हो रहा है, वैसे ही हमें शीघ्र सावधान हो जाना चाहिये और अपनी क्षमतानुसार पूरी शक्ति से उस अवांछनीय विचार को अपने मन से निकाल बाहर करना चाहिये। इस सन्धि-क्षण में एक परम सावधानी आवश्यक है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि हमें नीचे गिराने या पतित कर देने की अवांछनीय विचारों में पर्याप्त शक्ति है। क्योंकि कभी-न-कभी हमने उन्हें अपने मन में प्रवेश करने की अनुमति दी थी तथा उनका पोषण भी किया था। उससे अवांछित विचार अधिक शक्तिशाली हो उठे।

किन्तु उनसे भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। सद्‌विचारों की शक्ति अवांछित विचारों की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है। क्योंकि सद्‌विचार ईश्वरीय शक्ति से प्रस्फुटित होते हैं, जो मनुष्य के अन्तःकरण में विराजमान है। मनुष्य मूलतः दिव्य है। सामान्य परिस्थितियों में मनुष्य की दिव्यता प्रसुप्त रहती है। मनुष्य को अपने अन्तर्निहित दिव्य शक्ति का आह्वान करना है। इस दिव्य शक्ति की सहायता से वह किसी भी अवांछित विचार को समूल नष्ट कर सकता है। यह संघर्ष कठिन हो सकता है तथा कुछ समय ले सकता है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति दृढ़तापूर्वक संघर्ष करता रहता है, तो अन्ततः वह इस संग्राम में अवश्य विजयी होगा। उसके जीवन में शीघ्र ही एक ऐसा समय आयेगा कि कोई भी अवांछित विचार उसके मन में प्रवेश करने का और अधिक साहस नहीं कर सकेगा। वह सदैव अपने मन में अच्छे और दिव्य विचारों का पोषण करता रहेगा तथा एक दिन ऐसा आयेगा कि वह अपने हृदय में ही अपनी दिव्यता का अनुभव करेगा।

७. पराजय स्वीकार न करें

संघर्ष विजय का मूलभूत लक्षण है। कोई भी व्यक्ति बाहर और भीतर कठोर संघर्ष किये बिना विजयी नहीं हो सकता। विजय की ओर अग्रसर होने का सही कदम है – हमारे चरित्र के निर्माण और विकास में आनेवाली बाधा-बिघ्नों के विरुद्ध संघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त करना। हमें स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य चरित्रवान बनकर ही जन्म नहीं लेता है, उसे तो अपने चरित्र का निर्माण स्वयं करना पड़ता है। व्यक्ति के असंख्य विचारों और क्रियाओं का परिणाम ही चरित्र है। प्रतिदिन सुबह-से-शाम तक और जब हम रात में सोने जाते हैं तब तक, हम निरन्तर कुछ-न-कुछ करते-रहते हैं तथा हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि हमारे प्रत्येक कर्म के पीछे कोई-न-कोई विचार अवश्य है, चाहे हम इसे जानें या न जानें। जैसे पर्वतों से नदियाँ निकलती हैं, वैसे ही, विचार ही हमारे सभी अच्छे या बुरे कार्यों के स्रोत होते हैं। इसलिये हमें सावधानी पूर्वक अपने सभी विचारों का निरीक्षण करते रहना चाहिये और उन विचारों को ढूँढ़ना चाहिये, जो हमारे कर्मों के स्रोत हैं। जब एक बार हम अपने कर्मों के स्रोत को जान लेते हैं, तब बुरे विचारों को उनके बीज रूप में ही नष्ट करना सहज हो जाता है तथा हमारे शुभ विचारों के वर्धन और पोषण में वह सहायक होता है।

अपने मन और विचारों के निरीक्षण करने की यह सर्वोच्च पद्धति है। हमें सदैव यह स्मरण रखना होगा कि हम कभी भी अपने मन और विचारों के निरीक्षण के प्रति पर्याप्त सावधान नहीं हो पाते। ❖ **(क्रमशः)** ❖

राजस्थान में स्वामी अभेदानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुनः खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमशः इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द के एक अन्य गुरुभाई स्वामी अभेदानन्द जी भी राजपुताने में दो बार पधारे थे, एक बार तो अपनी परिव्रज्या के प्रारम्भ में अर्थात् १८९१ ई. में और दूसरी बार १८९५ ई. में। परन्तु बड़े ही आश्चर्य की बात है कि उनकी स्वलिखित आत्मकथा और उनकी विस्तृत जीवनियों में भी इस दूसरी यात्रा के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

१८९१ ई. में हुई अपनी प्रथम राजपुताना-यात्रा के बारे में स्वामी अभेदानन्द अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, "इलाहाबाद से विदा लेकर पहले मैं आगरा और उसके बाद दिल्ली गया। दिल्ली में दो-एक दिन बिताने के बाद मैंने जयपुर, उदयपुर, खेतड़ी, आबू, गिरनार तथा अन्य स्थानों का दर्शन किया।"[१] उक्त आत्मकथा में अपने राजस्थान-भ्रमण का उन्होंने बस इतना ही उल्लेख किया है। इसमें भूल से खेतड़ी का भी नाम आ गया है, क्योंकि तब तक किसी भी गुरुभाई का खेतड़ी के साथ सम्पर्क नहीं हुआ था और वहाँ पहुँचना भी बड़ा कठिन था। काफी काल बाद लिखित उक्त आत्मकथा में ऐसी त्रुटि का हो जाना स्वाभाविक है।

इसके अतिरिक्त स्वामी अभेदानन्द जी की अनेक जीवनियाँ भी उपलब्ध हैं। परन्तु वे भी उनके राजस्थान-भ्रमण पर कोई खास प्रकाश नहीं डालतीं। ४६६ पृष्ठों में मोनी बागची द्वारा लिखित उनकी अंग्रेजी जीवनी में भी इन्हीं बातों को दुहराया गया है। और उसमें भी उनकी १८९५ ई. में हुई इस यात्रा का तो कोई उल्लेख नहीं है।

दूसरी यात्रा

स्वामी अभेदानन्द की यह द्वितीय जयपुर-यात्रा एक विशेष उद्देश्य से – श्रीरामकृष्ण की उक्तियों की एक पुस्तिका के प्रकाशन के सिलसिले में हुई थी। इसकी पृष्ठभूमि पर हम थोड़ा विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

जैसा कि हम पहले बता आये हैं कि अमेरिका में स्वामी विवेकानन्दजी की हिन्दू-धर्म तथा वेदान्त-दर्शन के प्रचार में अद्भुत सफलता देखकर ब्राह्मसमाज के एक नेता श्री प्रताप चन्द्र मजुमदार ईर्ष्या से पगला गये थे और अमेरिका में भारत तथा हिन्दू-धर्म के विरुद्ध झूठा प्रचार करके धन जुटानेवाले ईसाई मिशनरी बौखला उठे थे। मजुमदार मिशनरियों से मिल कर स्वामीजी के विरुद्ध कई तरह के कुचक्र रचने लगे और उनके मार्ग में भाँति-भाँति के अवरोध खड़े करने लगे; यहाँ तक कि वे कहने लगे कि स्वामीजी हिन्दू संन्यासी ही नहीं हैं। अमेरिका में मानो अकेले ही इस विशाल सेना के दुष्प्रचार रूपी आक्रमण का सामना कर रहे थे। उन्होंने अपने गुरुभाइयों, शिष्यों, मित्रों तथा अनुरागियों से अनुरोध किया कि वे पूरे भारत में कुछ सभाओं का आयोजन करके उसमें यह प्रस्ताव पास करायें कि स्वामीजी हिन्दू-धर्म के एक प्रामाणिक प्रतिनिधि हैं।

कोलकाता में ऐसी ही एक सभा में आयोजन के लिये स्वामी अभेदानन्द ने जी-तोड़ परिश्रम किया। यह विराट् सभा ५ सितम्बर, १८९४ ई. को वहाँ के टॉउन-हॉल में सम्पन्न हुई। इसमें करीब ४००० लोगों ने भाग लिया था। इस प्रसंग में वे अपनी आत्म-कथा में लिखते हैं – "सभा के प्रस्तावों, कार्यसूची तथा स्वामीजी को सम्बोधित करके लिखे गये समर्थन-पत्र को प्रेस में छपवाकर सभा में वितरित किया गया था और यथारीति उसकी तीन अच्छी प्रतियाँ छपाकर हिन्दू-जाति की ओर से क्रमशः डॉ. बैरोज, मेरी स्नेल तथा स्वामीजी के नाम अमेरिका भेजा गया था। इसे भेजने के पूर्व ही उन लोगों को केबल (समुद्री तार) भेजकर अभिनन्दनों के वक्तव्य की सूचना दे दी गयी थी। कुछ दिनों बाद हमें स्वामीजी की ओर से अभिनन्दन-पत्रों की प्राप्ति-सूचना के साथ एक पत्र मिला, जिसमें उन्होंने हमारे कार्य की खूब प्रशंसा की थी और भारत तथा विशेषकर कोलकाता के निवासियों तथा हम लोगों को धन्यवाद दिया था।

"इस सभा की व्यवस्था करने हेतु मुझे दिन-रात परिश्रम करना पड़ा था, जिससे शरीर थक गया था, अतः गुरुभाइयों

१. Complete Works of Swami Abhedananda, Vol X, Ed. 1970, Calcutta, P. 757; आमार जीवनकथा (बँगला), चौथा सं., पृ. १६६; Vedanta Kesari, September 2007, p. 351

ने मुझसे कुछ दिन विश्राम कर लेने को कहा। आलम-बाजार मठ में कुछ दिन विश्राम करने के बाद मेरी पुन: तीर्थ-पर्यटन की इच्छा बलवती हो उठी। अत: शरत्, शशी तथा राखाल महाराज से अनुमति लेकर मैं नैनीताल के लिए रवाना हुआ। नैनीताल के आसपास भ्रमण करने के बाद अल्मोड़ा में रहकर कुछ माह तपस्या करने की इच्छा हुई। अल्मोड़ा का प्राकृतिक सौन्दर्य अतीव मनोहर है। वहाँ के पहाड़ों, वनों-जंगलों से आच्छादित हैं और हिम से ढँकी दूर-स्थित गगन-चुम्बी पर्वत -मालाओं का मनोहारी दृश्य सहज ही हृदय में वैराग्य की सृष्टि करता है। मेरे पास अंग्रेजी तथा संस्कृत में कुछ ग्रन्थ थे; मैं उन्हीं को पढ़ता और ध्यान-चिन्तन करता। ...

''अल्मोड़ा में कुछ माह बिताने के बाद मैं फिर पैदल ही आलम-बाजार मठ (कलकत्ता) लौट आया। लौटकर अमेरिका में सर्वत्र स्वामीजी की सफलता का समाचार पाकर मैंने अत्यन्त आनन्द तथा गर्व का अनुभव किया।''[२]

चूँकि अभेदानन्दजी ने स्वयं ही अपनी इस राजस्थान-यात्रा का वर्णन नहीं किया है, अत: उनकी जीवनियों में भी इसका उल्लेख नहीं हुआ है। वस्तुत: इन दिनों दो अन्य संन्यासियों (स्वामी निर्मलानन्द तथा सदानन्द) के साथ अल्मोड़ा में निवास[३] करते समय अभेदानन्दजी प्रतिदिन कुछ अनुरागी भक्तों के लिये अपनी अंग्रेजी नोटबुक के आधार पर श्रीरामकृष्ण के उपदेशों पर चर्चा किया करते थे। उनकी इन कक्षाओं के आधार पर इलाहाबाद हाईकोर्ट के एक स्थानीय वकील श्री ज्वालादत्त जोशी ने श्रीरामकृष्ण की चुनी हुई उक्तियों का हिन्दी में अनुवाद तथा सम्पादन करके एक पुस्तिका बनायी। तदुपरान्त इसके प्रकाशन की इच्छा से अभेदानन्दजी इस पाण्डुलिपि को लेकर खेतड़ी-नरेश से सहायता पाने की सम्भावना से जयपुर गये।[३] वहाँ से उनके द्वारा लिखे पहले पत्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

द्वारा ठाकुर साहेब हरीसिंह जी, कमान्डर-इन-चीफ
चाँदपोल गेट, (राजपुताना) जयपुर नगर,
२५ नवम्बर, १८९५

प्रिय ज्वालादत्त जी,

अल्मोड़ा में जब आपने हमसे विदा ली उसके बाद से हमें आपका कोई समाचार नहीं मिला। मानसिक तथा शारीरिक रूप से आप इस समय कैसे हैं, यह जानने को हम बड़े आतुर हैं। क्या आपको कलकत्ते के वैद्य से औषधियाँ मिल गयी हैं? यदि मिली हों, तो कृपया हमें सूचित करें कि आप उनके सेवन से कुछ राहत महसूस कर रहे हैं या नहीं।

जहाँ तक हमारा सवाल है, हम आपको यह सोचकर पत्र नहीं लिख सके कि हम किसी भी स्थान पर अधिक समय तक नहीं ठहरे। अल्मोड़ा से हम नैनीताल होते हुए बरैली आये। वहाँ पर हम केवल पाँच दिन ही ठहरे। वहाँ से हम आगरा और फिर जयपुर आये। यहाँ पर हमारा स्वास्थ्य अच्छा है। यहाँ से हमारी अजमेर तथा पुष्कर जाने की इच्छा है। हम आपको निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि हम यहाँ कितने दिन ठहरेंगे।

हमें यहाँ कोई अच्छा प्रेस नहीं मिला और इस कारण हमने विवश होकर फिलहाल उक्तियों को हिन्दी में प्रकाशित करने का विचार छोड़ दिया है। हमारा अनुमान था कि खेतड़ी के महाराजा का अपना एक अच्छा प्रेस होगा, परन्तु बात ऐसी नहीं है। इसके अतिरिक्त इन उक्तियों के प्रकाशन हेतु महाराजा से अनुरोध करना हमें पसन्द नहीं है। गंगाधर स्वामी (अखण्डानन्दजी) इस समय खेतड़ी में हैं। हम लोग अभी तक उनसे मिल नहीं सके हैं। हमारा खेतड़ी जाने का कोई इरादा भी नहीं है। हमारे गुरु महाराज ही जानते हैं कि उनकी उक्तियाँ कब तक प्रकाशित होंगी।

स्वामी सदानन्द इस समय ऋषीकेश में हैं। निर्मलानन्द जी मेरे साथ हैं। स्वामी विवेकानन्द इस समय इंग्लैंड में व्याख्यान देने में व्यस्त हैं। सम्भवत: आप 'इंडियन मिरर' तथा 'द आब्जर्वर' नामक समाचार-पत्रों में उनके व्याख्यानों के रिपोर्ट देख चुके होंगे। २२ अक्तूबर को वहाँ के प्रिंसेस हॉल में श्री ई.टी. स्टर्डी की अध्यक्षता में एक विशाल सभा हुई, जिसमें स्वामीजी ने हिन्दू-धर्म पर व्याख्यान दिया। क्या आपको श्री स्टर्डी की ओर से कोई पत्र मिला है?

कृपया ब्रह्मवादिन् के लिये कुछ ग्राहक जुटाने का प्रयास करें। मेरा विचार है कि अब यह पत्रिका आपको नियमित रूप से मिलने लगी होगी।

भगवान रामकृष्ण का आशीर्वाद आपके ऊपर बना रहे। मैं आपके कुशल-मंगल की आशा और शीघ्र पत्रोत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आपका ही –
अभेदानन्द[५]

अभेदानन्दजी के जयपुर पहुँचने के कुछ दिनों बाद ही

२. Complete Works of Swami Abhedananda, Kolkata, Vol. X, Pp. 773-74; आमार जीवनकथा (बँगला), चौथा सं., पृ. १८२

३. अभेदानन्दजी तथा निर्मलानन्दजी के अल्मोड़ा-प्रवास की सूचना अखण्डानन्दजी के जयपुर से लिखे ९ जुलाई, १८९५ के पत्र से भी प्राप्त होती है। (द्रष्टव्य – शरणागति ओ सेवा, बँगला ग्रन्थ, पृ. ९०)

४. अल्मोड़ा आश्रम के ब्रह्मचारी संजीव (अब स्वामी परिमलानन्द) वर्तमान लेखक के एक शोध-प्रबन्ध के आधार पर इस पुस्तिका के बारे में खोज करते हुए डॉ. प्रजापति जोशी के निवास पर पहुँचे। डॉ. जोशी के सौजन्य से उन्हें अभेदानन्दजी के दो पत्रों की प्रतिलिपि प्राप्त हुई, जिनसे उनके जयपुर-प्रवास के बारे में जानकारी मिली।

५. Prabuddha Bharata, Mayawati, May 1996, Pp. 341-44, and July 1996, Pp. 417-19, 428

अखण्डानन्दजी भी आकर दोनों संन्यासियों से मिले। गुरु-भाइयों के इस मिलन के बारे में अखण्डानन्दजी की जीवनी में लिखा है – "इस बार खेतड़ी में पाँच-छह महीने बिताकर स्वामी अखण्डानन्द चिड़ावा ग्राम में गये।... इसके बाद वे जन-साधारण के दु:ख-निवारणार्थ राजपुताना के प्रमुख ग्रामों में भ्रमण करते हुए जमींदारों को उनकी प्रजा के कल्याण हेतु प्रेरित करते रहे। इसी उद्देश्य से अलसीसर, मलसीसर, झुंझुनू, नवलगढ़, सूरजगढ़ आदि ग्रामों का भ्रमण करते हुए अन्त में वे जयपुर पहुँचे। यहीं रहते समय अप्रत्याशित रूप से स्वामी अभेदानन्द तथा निर्मलानन्द के साथ भेंट हो जाने से अखण्डानन्द अतीव आनन्दित हुए।"[६]

परन्तु तीन संन्यासियों की यह भेंट वैसी अप्रत्याशित या आकस्मिक नहीं थी, जैसा कि उपरोक्त वर्णन से प्रतीत होता है। सम्भवत: जयपुर पहुँचकर अभेदानन्दजी को पता चला कि खेतड़ी का अंचल जयपुर से दूर है तथा मार्ग दुर्गम है और वहाँ पर प्रिंटिंग प्रेस की कोई सुविधा विद्यमान नहीं है। उन्होंने वहीं से खेतड़ी पत्र लिखकर अखण्डानन्दजी को अपने आगमन की सूचना दे दी थी; इसलिये कुछ दिनों बाद वे भी जयपुर आकर उन लोगों से मिले तथा लाड़खानीजी के ही बँगले में ठहरे। बातचीत के दौरान एक बार यह प्रसंग उठने पर अखण्डानन्दजी ने कहा था – "जयपुर में १८९६ (१८९५ के अन्त) में स्वामी अभेदानन्द के साथ भेंट होने पर उन्होंने कहा – 'भाई, तभी तुमको तिब्बत से लौटे बरफानी बाबा के रूप में देखा था। उस समय तुम ईश्वर के स्मरण-मनन तथा कठोर तपस्या की प्रतिमूर्ति थे! और इन पाँच वर्षों के दौरान तुम्हारे अन्दर क्या ही परिवर्तन आ गया है! अब तुम एक patriot, statesman, philanthropist (देशभक्त, राष्ट्र-निर्माता और मानवप्रेमी) हो गये हो – क्या ही अद्भुत परिवर्तन है!"[७]

इस प्रकार जब अभेदानन्दजी तथा निर्मलानन्दजी ने जयपुर पहुँचकर खेतड़ी में अखण्डानन्दजी को इसकी सूचना दी, तो वे भी उन लोगों से मिलने दिसम्बर (१८९५) के प्रारम्भ में जयपुर आ पहुँचे। इसके बाद तीनों संन्यासियों ने 'लाड़खानी -भवन' में एक पखवारे से भी अधिक काल एक साथ बिताया, जैसा कि वहीं से पं. ज्वालादत्त जोशी को लिखे अभेदानन्दजी के निम्नलिखित पत्र से स्पष्ट हो जाता है –

जयपुर,

२२ दिसम्बर, १८९५

प्रिय ज्वालादत्त जी,

हमें आपका पत्र पाकर अतीव आनन्द हुआ। भविष्य में आपको अपने पत्रों की रजिस्ट्री कराने की जरूरत नहीं, क्योंकि सामान्य डाक से भेजे हुए पत्र भी मुझे समय से प्राप्त हो जाते हैं।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, श्री स्टर्डी स्वामी विवेकानन्द के शिष्य बन चुके हैं। स्वामीजी इस समय अमेरिका लौट चुके हैं। इंग्लैंड में उनके कार्य को उनकी आशा से भी अधिक सफलता मिली। उनका विचार है कि वेदान्त-दर्शन अमेरिका की अपेक्षा इंग्लैंड में कहीं अधिक गहराई से जड़ जमा सकेगा। इसलिये उनकी अगली गर्मियों में फिर से इंग्लैंड में आकर ठहरने की योजना है। हमें आशा है कि इस बार वहाँ आकर वे पहले से भी काफी अधिक कार्य सम्पन्न करेंगे।

जहाँ तक (श्रीरामकृष्ण की) उक्तियों का प्रश्न है, बाकी उक्तियों को स्वामी गंगाधर ने हिन्दी में अनुवाद कर डाला है, परन्तु हमारे पास इतना समय नहीं था कि हम उनके अनुवाद को मूल से मिलाकर देख पाते। प्रेस में भेजने के पहले पूरी पाण्डुलिपि को दुबारा सजाने की आपकी योजना से हमारी पूर्ण सहमति है। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ संयोजन तथा संशोधन की भी आवश्यकता है। अत: फिलहाल हमने पाण्डुलिपि को प्रकाशनार्थ प्रेस में भेजने का कार्य स्थगित कर दिया है। हमारी इच्छा है कि इसके प्रेस में जाने के पूर्व आप इसे एक बार और देख लें।

मुझे यह जानकर खुशी है कि आप जी-जान से अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील हैं। फल के बारे में मत सोचिये, बल्कि निरन्तर प्रार्थना तथा आगे की ओर संघर्ष करते रहिये। आपका आदर्श-वाक्य हो – **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** आदि और **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** इत्यादि।

आपके स्वास्थ्य के विषय में हमें यह जानकर खेद हुआ कि वैद्यकीय औषधियों से आपको कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। आप पत्रों के द्वारा वैद्यराज को अपने रोग के लक्षणों के बारे में स्पष्ट रूप से सूचित कीजिये; परन्तु यदि आप एक बार उनसे मिल पाते, तो वही नि:सन्देह सबसे अच्छा होता। आपको स्वयं भी अपने स्वास्थ्य पर ध्यान देना होगा, क्योंकि अत्यधिक परिश्रम भी सभी रोगों का कारण है, और इसी वजह से आप स्नायवीय दुर्बलता तथा अन्य रोगों से कष्ट पा रहे हैं। कुछ महीनों के लिये स्वयं को पूर्ण विश्राम देने की चेष्टा कीजिये। रात को पुस्तकें, यहाँ तक कि अपने व्यवसाय से सम्बन्धित पुस्तकें भी पढ़ने की आदत छोड़ दीजिये।

इस समय मैं थोड़ी सर्दी-खाँसी से कष्ट पा रहा हूँ। परन्तु स्वामी निर्मलानन्द तथा स्वामी गंगाधर (अखण्डानन्द) स्वस्थ हैं। ३-४ दिनों के भीतर ही मेरा अजमेर तथा पुष्कर जाने का विचार है और वहाँ से मैं उत्तर-प्रदेश की ओर रवाना हो जाऊँगा। मेरी सतत प्रार्थना है कि भगवान रामकृष्ण देव का

६. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, पृ. ९७-९८

७. स्वामी अखण्डानन्द के जेरूप देखियाछि, (बँगला), पृ. ११९

आशीर्वाद सदा आप के ऊपर बना रहे और वे सदा आपके मन को आनन्द तथा शान्ति प्रदान करते रहें। हमारा प्रेम तथा शुभ कामनाएँ स्वीकार करें। आशा है यह पत्र प्राप्त होने तक आप स्वस्थ हो जायेंगे।

आपका शुभाकांक्षी,
अभेदानन्द[८]

उपरोक्त पत्र से पता चलता है कि दिसम्बर (१८९५) के अन्तिम सप्ताह में स्वामी अभेदानन्द तथा निर्मलानन्द सम्भवत: तीर्थयात्रा के निमित्त अजमेर तथा पुष्कर जाने के बाद, उत्तर भारत के मार्ग से कोलकाता लौटे।

जयपुर में इस भेंट के अवसर पर अभेदानन्दजी तथा निर्मलानन्दजी ने उन्हें याद दिलाया था कि उन्हें कोलकाता में स्थित वराहनगर मठ से निकले हुए छह वर्ष हो चुके हैं और अगले वर्ष फरवरी में दक्षिणेश्वर में होनेवाले श्रीरामकृष्ण-जयन्ती के अवसर पर उनका मठ में उपस्थित रहना उचित होगा। उन्हें भी लगा कि एक बार मठ में जाकर गुरुभाइयों से मिल आना उचित होगा। दोनों संन्यासियों के जयपुर से विदा हो जाने के बाद अखण्डानन्दजी भी बंगाल लौटने की तैयारी में लग गये।

राजस्थान में करीब ढाई वर्षों के अपने प्रवास की एक संक्षिप्त झाँकी देते हुए वे स्वयं लिखते हैं – "खेतड़ी से विदा लेकर मलसीसर गया ...। वहाँ से अलसीसर, झुंझुनू, नवलगढ़, खण्डेला, लोहारू, सूरजगढ़ आदि विख्यात ग्रामों से होते हुए जमींदारों को प्रजा के कल्याण में मनोनियोग करने का उपदेश दिया। जयपुर आकर मैं स्वामी अभेदानन्द तथा निर्मलानन्द से मिला। उन लोगों के अनुरोध पर ठाकुर का महोत्सव देखने हेतु आलमबाजार मठ लौटा।... अलवर में स्वामीजी के जो भक्त-शिष्य थे, स्वामीजी ने मुझे उन लोगों की एक सभा करने को लिखा था। उसी उद्देश्य से मैं ८-१० दिन स्वामीजी के शिष्य गोविन्द सहाय के घर ठहरा था। वहाँ एक साप्ताहिक सभा आरम्भ करने के बाद मैंने दिल्ली की यात्रा की। दिल्ली में कुछ दिन बिताने के बाद मैं इटावा तथा इलाहाबाद होते हुए आलमबाजार मठ लौट आया।... वराहनगर मठ से बाहर निकलकर छह वर्ष बाद १८९५ ई. के ठीक अन्त में मैं आलमबाजार मठ लौटा था।"[९] सम्भवत: इसी समय इलाहाबाद में उन्होंने श्रीरामकृष्ण की उक्तियों की पाण्डुलिपि लाकर पं. ज्वालादत्त जोशी को सौंप दी, जो लगभग दो वर्ष बाद प्रकाशित हुई।

दृष्टान्त समुच्चय का प्रकाशन

१८९८ ई. के प्रारम्भ में इलाहाबाद के इंडियन प्रेस से प्रकाशित इस पुस्तिका का शीर्षक है – "दृष्टान्त समुच्चय अर्थात् श्रीमान् परमहँस रामकृष्णजी के भक्ति ज्ञान वैराग्य सम्बन्धी दृष्टान्त"। पुस्तिका के मुखपृष्ठ पर यह सूचना भी छपी है – इसे "प्रयाग हाईकोर्ट के वकील पण्डित ज्वालादत्त जोशी ने इकट्ठा करके सरल हिन्दी में लिखा।" श्रीरामकृष्ण की ३८ दृष्टान्तों तथा कथाओं को प्रस्तुत करनेवाली इस ४+२+३३ पृष्ठों की पुस्तिका का प्रथम पृष्ठ इस प्रकार है –

श्री श्रीरामकृष्णोजयति श्री स्वामी अभेदानन्द श्रीस्वामी निर्मलानन्द श्रीस्वामी सदानन्द चरणेषु समर्पितमिदम्

"प्राय: तीन वर्ष हुये कि आप के सत्संग से मुझको यह लाभ विशेष हुआ कि मैंने पूज्यपाद श्री गुरु महाराज की उक्तियाँ आप के पास बैठ के सुनीं और उन का सूचीपत्र भी बनाया। पीछे आपकी ऐसी कृपा हुई कि आप अपना अंग्रेजी लेख जिसमें वे सब उक्तियां हैं मुझ ही को दे गये। उसमें जितने दृष्टान्त हैं उन को मैंने चुन-चुन कर एकट्ठा किया और शक्ति अनुसार हिन्दी में लिखा। यह वही पुस्तक है।

आप का कृपाकांक्षी, ज्वाला दत्त जोशी"

आलमबाजार मठ में स्वामी अखण्डानन्द

इस प्रकार स्वामी अखण्डानन्द १८९६ ई. के प्रारम्भ में कोलकाता में स्थित आलमबाजार मठ में लौट आये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने पाया कि कुछ दिन पूर्व ही अभेदानन्द तथा निर्मलानन्द राजस्थान से लौटे थे। अधिक गुरुभाई मठ में ही विद्यमान थे। सुदीर्घ छह साल तक गुरुभ्राताओं से मिलकर अखण्डानन्दजी का चित्त आनन्द से परिपूर्ण हो उठा।

यद्यपि स्वामी अभेदानन्द तथा निर्मलानन्द की यह जयपुर-यात्रा श्रीरामकृष्ण की उक्तियों की हिन्दी पुस्तिका के प्रकाशन के सन्दर्भ में हुई थी, परन्तु इसके दूरगामी परिणाम निकले। उन लोगों के अनुरोध पर स्वामी अखण्डानन्द जो कोलकाता आये, तो अन्य कार्यों में व्यस्त हो जाने के कारण वे पुन: राजस्थान नहीं जा सके और इस कारण राजपुताने की धरती पर उनके द्वारा शुरू किया गया रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा के प्रचार तथा शिवज्ञान से जीवसेवा का कार्य काफी काल के लिये स्थगित हो गया।

❖ (क्रमश:) ❖

८. Prabuddha Bharata, Mayawati, May 1996, Pp. 341-44, and July 1996, Pp. 417-19, 428

९. 'स्मृतिकथा' (बँगला), तृतीय सं. पृ. १२१-२५

सत्यकथा

धर्मात्मा मोती काका

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमशः उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'भूले न भुलाए' पुस्तक के कुछ अंश। – सं.)

हमारे गाँव में बाहर से साधु-सन्त आते रहते थे। उनके प्रवचनों के समय देखा जाता कि एक वृद्ध सज्जन नियमित रूप से सबसे पहले आते और सबके बाद जाते। लोगों की जूतियों के पास बैठकर हाथ में माला लिये जप करते रहते। उनकी आयु प्रौढ़ावस्था को पार कर चुकी थी, परन्तु शरीर की काठी देखकर अनुमान होता था कि किसी समय वे बहुत सुन्दर और बलवान रहे होंगे। गोरे चेहरे पर झुर्रियाँ थी, पर आँखों में चमक थी। बच्चों से उसे ऐसा प्यार था कि सारे दिन वे उन्हें घेरे रहते, कोई दाढ़ी खींचकर भाग जाता, तो कोई पीठ पर धौल जमाकर। पत्नी, पतोहुओं और पोते-पोतियों से भरा-पूरा घर था। दो जवान लड़के फौज में थे। गाँव के पास ही खेत थे, जिनसे अच्छी आय हो जाती थी।

लोग कहते कि कभी मोती काका नामी डाकू थे, उन्होंने सैकड़ों डाके डाले थे, मगर ब्राह्मण या गाँव की बहन-बेटी को कभी नहीं लूटा। यहाँ तक कि ब्राह्मणों की बेटियों की शादी में अपने आदमियों के हाथों दान-दहेज भेजते रहते थे।

शुरू-शुरू में तो हम बच्चे उनसे सहमे-से रहते। परन्तु कुछ अर्से बाद इस प्रकार हिल-मिल जाते कि उनके कन्धों पर चढ़कर नाचते रहते। यद्यपि उस समय – डाकू क्या है – इस विषय में स्पष्ट जानकारी नहीं थी, फिर भी हम ऐसा समझते कि वह कोई खराब आदमी होता है। काका से पूछने पर वे हँसकर बात टाल देते; और कभी दोनों हाथों से आँखों को बड़ी-बड़ी करके डराने लग जाते।

उस बार बहुत वर्षों तक 'दिसावर' रहने के बाद मैं गाँव आया था। मोती काका पचहत्तर-अस्सी वर्ष के हो चुके थे, चल-फिर नहीं सकते थे। हाथ-पैर काँपने लग गये थे, परन्तु आँख-कान दुरुस्त थे। जब हम बचपन में उनसे कहानियाँ सुनते, तब मैं कहता कि हम बड़े होंगे, तब आपके लिये एक अच्छी-सी ऊनी चद्दर लायेंगे। वह बात मुझे याद रही और मैं धारीवाल की एक चद्दर उनके लिये ले गया था।

बातचीत करते हुये मैंने देखा कि उनकी आँखों में हर्ष के आँसू आ गये हैं। कहने लगे – "सुना है, तुम्हारी तनख्वाह दस हजार रूपये महीना है। मैं इसके लिये हमेशा भगवान से प्रार्थना किया करता था। रामजी ने मेरी बात सुन ली।"

उन दिनों काका को गाँधीजी के दर्शन करने की प्रबल इच्छा थी। हमारे उधर – राजस्थान के गाँवों में, उनके बारे में बहुत-सी किंवदन्तियाँ फैली हुई थीं, यथा – 'उनको भगवान के साक्षात् दर्शन होते हैं', 'जेल के फाटक अपने-आप खुल गये', 'चोर-डाकू भी उनके सामने आकर सच्ची बात कहने से पाप-मुक्त हो जाते हैं', आदि आदि।

काका का शरीर इतना अस्वस्थ रहने लगा कि उस इच्छा की पूर्ति नहीं हुई। परन्तु उन्हीं दिनों हरिद्वार से एक बड़े महात्मा अपने कई शिष्यों के साथ हमारे गाँव आये। मोती काका ने बड़े आग्रहपूर्वक उनको निमंत्रित किया और साथ-ही-साथ गाँव के दूसरे प्रतिष्ठित व्यक्तियों को भी।

भोजन के पहले काका ने सैकड़ों आदमियों के सामने हाथ जोड़कर कहा कि मेरा अन्त समय अब निकट आ गया है। जीवन में मैंने जघन्य पाप किये हैं। मुझे कल रात सपना आया है कि तुम महात्माजी और गाँव के लोगों के समक्ष अपने पापों को स्वीकार करो, इससे तुम्हें शान्ति मिलेगी। उन्होंने अपने जीवन की जो घटनाएँ बतायीं, उनसे यह निश्चय नहीं कर सका कि वे पापी हैं या धर्मात्मा?

मोती काका अपनी जीवन-गाथा सुनाने लगे – "मैं अपने माँ-बाप का इकलौता बेटा था। विवाह होकर बारात वापस आयी थी। अभी कंगन-डोरे भी नहीं खुले थे कि गाँव का महाजन अपने कर्ज के तकाजे के लिये आकर बैठ गया।

"उन दिनों कर्ज न चुकाने पर कैद की सजा होती थी। बहुत-से सगे-सम्बन्धियों के बीच बापू को पुलिस के सिपाही हथकड़ी डालकर ले गये। उस दिन के बाद शर्म के मारे मेरा घर से निकलना दुश्वार हो गया। मैंने प्रतिज्ञा कर ली कि जैसे भी होगा, कर्ज चुकाकर पिता को जेल से छुड़ाऊँगा।

"बहुत प्रयत्न करने के बावजूद काम नहीं मिल पाया। संयोग से मेरी जान पहचान प्रसिद्ध डाकू ठाकुर रामसिंह के साथियों से हो गयी और मैं उनके दल में शामिल हो गया। हिम्मत, सूझ और शारीरिक बल के कारण रामसिंह के मरने के बाद मुझे ही दल का सरदार चुना गया।

"कर्ज से दुगने रुपये लेकर मैं एक रात सेठ के घर पहुँचा। उस सेठ के प्रति मेरे मन में ऐसी घृणा हो गयी कि कर्ज चुकती की रसीद लेकर लौटते समय मैंने उसके नाक-कान काट लिये। उसके बाद तो मैंने सैकड़ों डाके डाले, पर परमात्मा ही जानता है कि मैंने कभी ब्राह्मणों और गाँव की बहू-बेटियों को नहीं सताया, न गरीब और निम्न-वर्ग के लोगों को ही। मुझे प्राय: ही खबरें मिलतीं कि मेरे माँ-बाप को नाना प्रकार की यातनाएँ दी जा रही हैं। एक दिन यह भी सुना कि मेरी पत्नी को थाने में बन्द कर रखा है और उसके साथ बहुत ही अमानुषिक बर्ताव किया जा रहा है।

"एक अँधेरी रात में दस-बारह साथियों के साथ मैंने उस पुलिस-चौकी पर हमला कर दिया। आठ-दस सिपाही और अफसर मारे गये। हमारे भी तीन-चार साथी खेत रहे। पत्नी दर्द से कराह रही थी। उसकी हालत देखकर मन लज्जा और ग्लानि से भर गया, परन्तु पास के थानों से सिपाहियों की टुकड़ी पहुँचने की आशंका से हमें भागकर जंगल में जाना पड़ा। माँ-बाप और पत्नी की दुर्दशा के समाचारों से मैं रात-दिन बेचैन रहने लगा। उधर पुलिस की सतर्कता भी बहुत ज्यादा बढ़ गयी। मुझे जिन्दा या मुर्दा पकड़वा देने पर सरकार द्वारा दस हजार रुपये इनाम की घोषणा कर दी गयी।

"गाँव के एक गरीब ब्राह्मण की बेटी का विवाह रुपये के बिना अटक रहा था। मेरे पास उस समय रुपयों की व्यवस्था नहीं थी। समय कम था। मैं पशोपेश में पड़ गया कि कैसे मदद करूँ? मुझे सरकारी-घोषणा की बात याद आ गयी। मगर मेरे साथी इस पर तैयार नहीं हुये। आखिरकार मैं अकेला ही उस ब्राह्मण के पास गया और समझाया कि मुझे थाने में हाजिर करने से उसे दस हजार रुपये मिल जायेंगे।

"पहले तो वह तैयार नहीं हुआ, परन्तु बहुत समझाने-बुझाने पर मान गया। विभिन्न अपराधों में मुझे पन्द्रह वर्ष की कड़ी कैद की सजा हुई। परन्तु मेरे अच्छे चाल-चलन के कारण दस वर्ष में ही छोड़ दिया गया।

"अब उन बातों को करीब पच्चीस-तीस वर्ष हो गये हैं, परन्तु अपने पुराने पापों की याद से, अब भी मेरे मन में ग्लानि और लज्जा भरी पड़ी है। कहते हैं कि परमात्मा के भक्तों की सेवा करने से जघन्य पाप भी दूर हो जाते हैं, इसी कारण कथा आदि में आनेवालों की जूतियों को सम्हाल कर रखता हूँ। बहन-बेटियों के बच्चों को बहलाता रहता हूँ।"

काका की बातें सुनकर सभी लोगों के साथ-ही-साथ महात्माजी भी हर्ष से गद्गद् हो उठे। उन्होंने उठकर मोती काका को सीने से लगा लिया। ❑❑❑

सूर्यदेव से प्रार्थना

पुरुषोत्तम नेमा

हे चिर यात्री, तप्त किरण पति,
हमको भी ऐसा वर दें !!

चलना ही मंजिल बन जाये,
आलस छुट्टी कभी न भाये,
बिना स्वार्थ उजियारा बाँटें,
ऐसी गति-मति कर दें !!

राग-द्वेष का घना अँधेरा,
साँस-साँस में मेरा-तेरा,
बिना नेह-बाती जो चमके
रत्नदीप उर कर दें !!

बड़ी अबूझ जगत की माया,
बढ़ा लोभ ही जितना पाया,
कज्जल से हो रहे हृदय को,
शुभ्र रजत-सा कर दें !!

तम का यह आवरण सनातन,
उठते ही किरणों का नर्तन,
दोनों शुभ हों, दोनों ही प्रिय,
यह आशीष अमर दें !!

कुटिया में साहित्य उदय हो,
लंका में आदित्य हृदय हो
रावण का सिर छिन्न करे जो,
तापस-कर में शर दें !!
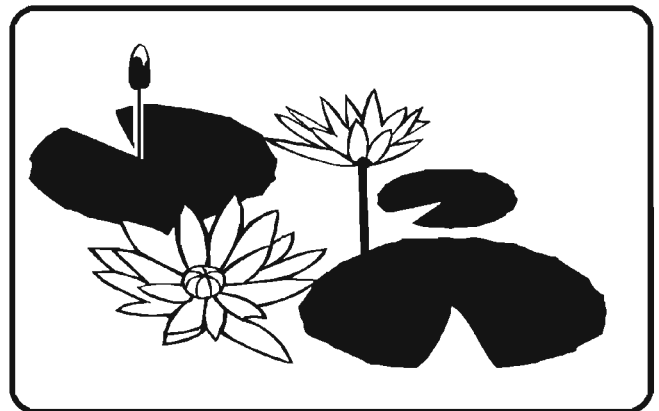
माँ की बातें

बासोना बाला नन्दी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(लेखिका का घर कामारपुकुर – मुकुन्दपुर में है। पिता का नाम अधरचन्द्र नायक और माँ का ज्योतिबाला था। इनका जन्म १८९९-१९०० ई. में हुआ। ७ वर्ष की अल्पायु में इनका ऋषीकेश नन्दी से विवाह हुआ। विवाह के कुछ दिनों बाद ही वे विधवा हो गयीं। दस वर्ष की आयु से ही वे जयरामबाटी में माँ के घर काम करने आने लगीं। उसके बाद माँ के देहान्त तक वे माँ के पास ही रहीं।)

मैंने काफी काल तक माँ के साथ निवास किया है – दस साल तो उनके पास रही ही हूँ। मैं जयरामबाटी में उनके घर काम करती थी। जयरामबाटी में ही अधिक समय तक रही हूँ। कभी-कभी बागबाजार में मायेर बाड़ी (माँ के घर) में भी रही हूँ। मैं माँ को 'माँ' ही कहती थी। जिस दिन बागबाजार के मायेर बाड़ी में भरत महाराज[१] की दीक्षा हुई थी। उसी दिन भरत महाराज के बाद माँ ने मुझे भी मंत्र दिया था।[२] उस दिन और भी दो-एक लोगों को माँ की कृपा मिली थी। मैंने माँ को कामारपुकुर में अधिक जाते नहीं देखा, लेकिन स्मरण आता है कि एक बार ठाकुर की जन्मतिथि के समय वे तीन रात कामारपुकुर में थीं। कभी मेरे पिता ठाकुर के परिवार के 'लक्ष्मी-जला' में खेती करते थे। ठाकुर के सम्बन्धियों के दुर्व्यवहार के कारण माँ कामारपुकुर में रह नहीं सकीं। लेकिन मुझे कभी उनके मुख से उन लोगों के बारे में कोई उलाहना सुनने को नहीं मिली। देवता हुए बिना क्या कोई ऐसा क्षमाशील हो सकता है? ठाकुर के भतीजे लोग लक्ष्मीजला के धान-चावल का थोड़ा भी हिस्सा माँ को नहीं देते थे। मेरे पिता लक्ष्मीजला की खेती करते थे, इसलिये उन्हीं से मैंने ये बातें सुनी हैं। लेकिन माँ के मुख से कभी कुछ नहीं सुना। मैं यदि माँ से कहती – "तुम्हारे हिस्से की चीज, वे लोग तुम्हें क्यों नहीं देंगे?" इस पर माँ शान्त भाव से कहतीं – "देखो जी, हमारे ऐसे ठाकुर चले गये! क्या होगा वह दो मुट्ठी धान-चावल लेकर! वे लोग यदि उसी को लेकर खुश हैं, तो लें न!"

कामारपुकुर में रहते समय कई बार तो माँ अपने भात के साथ सब्जी तक नहीं जुटा पाती थीं। ठाकुर के कमरे के पास थोड़ी-सी जगह में माँ ने शाक बोया था। लक्ष्मी दीदी उसे पाँवों से कुचल देती थीं। माँ के मना करने पर उन्होंने माँ के साथ खूब झगड़ा किया और माँ को खूब खरी-खोटी भी सुना दिया था। माँ ने चुपचाप वह सब सहन कर लिया था। लक्ष्मी दीदी ने मुझसे कहा था – "बासोना, जयरामबाटी में पड़ी-पड़ी क्यों कष्ट उठा रही है? यदि काम ही करना है, तो दक्षिणेश्वर में भैया लोगों के पास चली जा। वहाँ तुझे खाने को भी अच्छा मिलेगा और पहनने को भी मिलेगा।" मैं बोली – "ऐसा नहीं होगा। मैं माँ के पास बड़े सुख से हूँ। माँ को छोड़कर कहीं भी नहीं जाऊँगी।"

कामारपुकुर में ठाकुर के सम्बन्धियों से अच्छा व्यवहार न मिलने के कारण ही माँ को बाध्य होकर जयरामबाटी में अपने पिता के घर रहना पड़ा था। ठाकुर ने माँ को कामारपुकुर में रहने के लिये कहा था। ठाकुर के देहत्याग के बाद माँ कई वर्ष कामारपुकुर में रहीं, पर उन लोगों के व्यवहार के कारण ही माँ अन्त तक कामारपुकुर में नहीं रह सकीं। माँ की माता को जब सारी सूचना मिली, तो वे उन्हें बलपूर्वक जयरामबाटी ले गयीं। कामारपुकुर के लोगों का भी दुर्व्यवहार था। पिताजी कहते थे कि इसके पीछे भी ठाकुर के सम्बन्धियों का ही उकसावा था। कामारपुकुर के लाहा-परिवार की प्रसन्नमयी तथा अन्य दो-एक जन माँ के प्रति बड़ा स्नेह-भाव रखती थीं। वे ही माँ की खोज-खबर लिया करती थीं।

पिताजी से सुना है कि ठाकुर में जात-पात का कोई भाव नहीं था। उनके इस व्यवहार के लिये गाँव के अनेक ब्राह्मण तथा कायस्थ उनकी निन्दा करते। परन्तु गाँव के निम्न जाति के लोग तो 'गदाई ठाकुर' कहते ही गद्गद हो जाते थे। ब्राह्मण लोग कहते – "देखो तो, बाप कैसा था और लड़का कैसा निकला! शुद्र के घर जाकर खाना-पीना कर आता है। यह क्या ब्राह्मण का लड़का है?" ठाकुर चीनू शाँखारी के घर जाकर खा लेते, इस कारण ब्राह्मण लोग चीनू शाँखारी को भी डाँट लगाते और उसकी हँसी भी उड़ाते। केवल शूद्रों से ही नहीं, मुसलमानों के साथ भी ठाकुर की बड़ी घनिष्ठता थी। ठाकुर मुसलमानों के घर भी जाते थे। इसी कारण मैंने कामारपुकुर के भूतू शेख तथा मन्दारण के मियाँ लोगों को

१. स्वामी अभयानन्द   २. सन् १९१२ ई. में

भी जयरामबाटी में माँ के पास आते देखा है।

ठाकुर के मित्रों में लाहा लोगों में रामदास और योगीन्द्र, बढ़ई लोगों में दुखीराम, लायकों में शिबू (शिवप्रसाद) और सरपंच नटवर को मैंने देखा है। मेरे कामारपुकुर आने पर माँ मुझे उनकी खबर ले आने को कहतीं। मैंने प्रसन्नमयी को भी देखा है। तब तक वे और ठाकुर के सभी साथी वृद्ध हो गये थे। ये लोग जयरामबाटी में माँ से मिलने भी आते थे। वे जब माँ के प्रणाम करने को उद्यत होते, तो माँ स्वीकार नहीं करती थीं। कहतीं – "तुम लोग ठाकुर के संगी हो, ठाकुर के समवयस्क हो। मैं तुम लोगों का प्रणाम कैसे लूँ?"

मेरा कितने जन्मों का सौभाग्य है कि मैंने माँ की सेवा की है, उनके चरण छुए हैं। माँ के बर्तन माँजना, कमरे में पोंछा लगाना, बाजार करना – कितने ही काम मैं किया करती थी। रात में माँ के पैरों में तेल मालिश भी किया है। इतने कोमल पाँव थे, मानो रूई के बने हों। मनुष्य के पैर तो ऐसे नहीं होते! कामारपुकुर के दुर्गा मयरा की जलेबियाँ और सतीश का मोतीचूर लड्डू ठाकुर को बड़ा पसन्द था। माँ कभी-कभी कामारपुकुर से यह सब जयरामबाटी लाकर ठाकुर को भोग देती थी। कामारपुकुर के ब्राह्मणों में उपेन घोषाल, प्रसन्न घटक तथा सत्य मुखर्जी को माँ का हालचाल लेते देखा है। ये लोग माँ की श्रद्धा-भक्ति करते थे। माँ जब जयरामबाटी से अन्तिम बार कोलकाता गयीं, उस समय अन्य लोगों के साथ मैं भी बागबाजार गयी थी। उस बार माँ बहुत बीमार थीं। माँ जिस रात हम सबको छोड़कर गयीं, उसके अगले दिन बेलूड़ मठ में दाह हो जाने के बाद कैसी वर्षा हुई! ओले गिरे थे। आकाश-हवा-पृथ्वी – सर्वत्र जल-ही-जल दीख रहा था। सभी मानो माँ के शोक में रो रहे हों। कुछ दिन बागबाजार में रहने के बाद महाराज ने ही मुझे कामारपुकुर भेजने की व्यवस्था की थी।

माँ के घर में मैं बर्तन माँजती, घर-द्वार बुहारती। माँ खाना बनातीं, धान उबालतीं। माँ की बनायी रसोई बड़ी स्वादिष्ट होती थी। माँ हिंचे साग की तरकारी और अमरुल साग भी बनातीं। वे जो अमृत जैसा रसोई पकाती थीं, उसे कहकर नहीं समझाया जा सकता। रात के समय माँ कभी-कभी मुड़की तथा जल ग्रहण करती थीं।

माँ के शरीर का रंग उज्ज्वल साँवला था। सिर के बाल घने और खूब लम्बे थे। जब मैं बहुत छोटी थी, तभी मेरे माता-पिता और पति की मृत्यु हो गयी। अत: मेरा भी कोई नहीं रहा। माँ कहती थीं – "तू खोने से भी कोई ढूँढ़नेवाला नहीं है, मरने से भी रोनेवाला नहीं है।"

माँ को बिल्ली से बड़ा लगाव था। एक बार माँ खाने बैठीं, पर अभी खाना शुरू नहीं किया था। मेरा भी खाना परोसा जा चुका था। बिल्ली को तब भी खाना नहीं दिया गया था। बिल्ली ने आकर मेरा भात खा लिया। लेकिन माँ ने बिल्ली को जरा भी नहीं डाँटा। मुझसे बोलीं –"बासोना, तू मेरा भात खा ले।" माँ का खाना, हम दोनों ने खाया। इसीलिये मैं हमेशा पहले बिल्ली को खिलाकर ही खाती हूँ।

मैंने ठाकुर के शिष्यों में राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द), बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द), महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द), शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) और मास्टर महाशय (श्री 'म') को देखा है। मैं माँ का काम करती थी, इसलिये उन लोगों का मुझ पर बड़ा स्नेह था।

उस समय मेरी आयु १२-१३ साल रही होगी। जयरामबाटी में एक दिन मैंने पड़ोस के एक गाँव में पूजा देखने जाने के लिये माँ से बहुत जिद किया। माँ ने मुझे अकेले नहीं जाने दिया। रात में माँ के पैरों में वात के लिये तेल मालिश करते समय उन्होंने बड़े स्नेहपूर्वक मुझसे कहा – "तू जो देखने के लिये इतना व्यग्र हो रही थी, उसे तू यहाँ बैठे-बैठे ही देख सकती है।" उस रात माँ ने मुझे अपना जगद्धात्री रूप दिखाया। वह भयंकरी नहीं – बड़ा स्निग्ध, बड़ा सुन्दर रूप था। वह जो रूप था, जो ऐश्वर्य था, उसे नेत्रों में बाँधकर नहीं रख सकी, पर नेत्र मूँदते ही मन में वही रूप तैरने लगता है।

उस दिन माँ के पैरों में वात का तेल मलते-मलते मैं कब सो गयीं, पता ही नहीं चला। सहसा मेरी नींद खुल गयी। देखा कि चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैला है। इतना प्रकाश मैंने जीवन में कभी नहीं देखा था। मानो पूरा कमरा प्रकाश में तैर रहा हो। उसी प्रकाश के मध्य में जीवन्त माँ-जगद्धात्री बैठी थीं। लेकिन माँ को कहीं नहीं देखा। मैं भयभीत होकर 'माँ-माँ' कहती हुई दरवाजे की साँकल खोलकर बाहर आ गयी। माँ कहीं भी नहीं दिखाई दीं। मैं फिर कमरे में गयी। देखा – माँ जैसे सोयी थीं, वैसे ही सोयी हैं। निद्रामग्न थीं। कमरे में अब पहले वाला प्रकाश नहीं था। एक कोने में लालटेन जल रही थी। मैंने माँ को पुकारा। माँ उठकर बोलीं, "तूने देखा न!" मैंने जो कुछ देखा था, सब माँ को बताया। माँ मधुर हास्य के साथ बोलीं – "जो देखा, सब सत्य है। मैं ही जगद्धात्री हूँ, मैं ही दुर्गा हूँ, मैं ही लक्ष्मी हूँ, मैं ही सरस्वती हूँ, मैं ही काली हूँ।"

वात के कारण माँ को पैरों में पीड़ा होती थी। और माँ के शरीर में आमवात भी निकलता था। जैसे मैं माँ के पैरों में वात का तेल लगाती थी, वैसे ही उनके शरीर में आमवात के लिये भी तेल का मालिश करती। माँ के पैरों में कमल के फूल जैसा एक चिह्न था। पैरों में तेल लगाते समय मैं उसे उखाड़ने की चेष्टा करती। माँ हँसतीं और कहतीं, "उसे उखाड़ने से क्या मिलेगा?"

तुम्हें ही तप करना होगा

देवेन्द्र कुमार मिश्रा

घनघोर अँधेरा हो
उजालों ने मुँह फेरा हो,
तुम प्रतीक्षा मत करना किसी देवदूत की
जो आकर तुम्हें तारेगा।
तुम्हें ही राह निकालनी होगी।
तुम्हें ही किरण की तलाश करनी होगी।
तुम्हीं हो स्वयं को सँवारने वाले।
तुम्हें लड़ना होगा,
तुम्हें बढ़ना होगा,
मुक्ति की कामना हेतु
तुम्हें ही तप करना होगा।
यूँ बैठने से बात बनेगी नहीं
किसी स्वर्ग में कोई देवता नहीं
नर से नारायण बनने की
क्षमता तुम्हारे अलावा किसी में नहीं।

मैं फकीर हूँ

मेरा किसी से कोई प्रश्न नहीं,
मुझे किसी उत्तर की प्रतीक्षा नहीं,
मैं किन्तु-परन्तु में नहीं उलझता,
मौन हूँ – चट्टान की तरह
तुम्हारा वार तुम्हें ही चोट देगा;
बीते की शिकायत नहीं,
कल की फिकर नहीं,
वर्तमान में जीता हूँ, चिन्ता को पीता हूँ
मुझमें ढूढ़ोगे, बुराइयाँ खोजोगे,
तो अपना समय नष्ट करोगे;
मैं सुख में नहीं हूँ, दुख में नहीं,
मुझ पर धूप-छाँव का असर भी नहीं;
न कट सकूँ, न मर सकूँ,
न डूब सकूँ, न जल सकूँ,
आत्मा में स्थित हूँ, ब्रह्म में लीन हूँ,
हाँ, मैं तो फकीर हूँ।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

ठाकुर को मैंने कई बार स्वप्न में देखा है। एक दिन उन्होंने स्वप्न में मुझे मंत्र दिया था। कान में फूँक मारते हुए वे बोले – ''हरि गुरु – गुरु हरि।'' यह मंत्र सबको बताना, पर तेरी माँ (श्री माँ) ने तुझे जो मंत्र दिया है, वह किसी से मत कहना।'' इस उम्र में भी मुझे कानों से भलीभाँति सुनाई देता है। मेरी धारणा है कि ठाकुर ने मेरे कानों में जो फूँक मारा था, उसी से मेरी श्रवण-शक्ति इतनी अच्छी है। ठाकुर ने यदि उस समय मेरे कानों की जगह आँखों पर फूँक मारा होता, तो शायद नेत्रों से अच्छी तरह देख पाती। अब ठीक से दिखाई नहीं देता। मुकुन्दपुर के बूढ़े शिव[३] ने मुझसे स्वप्न में कहा था – ''मैं जो वस्तु हूँ, रामकृष्ण भी वही वस्तु हैं; और सारदा ही दुर्गा, काली, जगद्धात्री है।''

माँ तो वही थीं। ठाकुर भी तो शिव – कैलाशपति थे। अभी भी स्वप्न में ठाकुर मुझे दर्शन देते हैं, माँ दर्शन देती हैं। तभी तो इस जीर्ण, पंगु शरीर को लेकर भी मैं महा आनन्द में हूँ। मैं ठहरी एक गरीब बाल-विधवा। परन्तु माँ के आशीर्वाद से कभी कोई कष्ट या अभाव नहीं हुआ। लगता है कि देहत्याग के बाद से माँ ने मानो मुझे अपनी गोद में ले रखा है। कुछ दिन पहले तक शरीर बिल्कुल ठीक-ठाक था। ठाकुर ने मुझे स्वप्न में बहुत पहले ही कहा था – ''तुझे किसी चीज का अभाव नहीं होगा, तेरी माँ ही तुझे देखेंगी और अन्त समय में स्वयं आकर तुझे ले जाएँगी।'' न जाने वे कब लेने आयेंगी – इसी आशा में दिन बिता रही हूँ। उनकी बाट जोहते हुये बैठी हूँ।*

❖ (क्रमशः) ❖

३. श्रीरामकृष्ण की माता चन्द्रामणि देवी ने अपने पुत्र के पागल हो जाने का समाचार पाकर मुकुन्दपुर के इसी बूढ़े शिव के मन्दिर में उसके ठीक हो जाने की कामना से 'धरना' दिया था। दो-तीन दिनों बाद देवाधिदेव शिव ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिया और कहा था – 'तुम्हारा पुत्र पागल नहीं हुआ है, ईश्वरीय प्रेम के कारण उसकी ऐसी अवस्था हुई है।'' दैवी आदेश से आश्वस्त होकर चन्द्रामणि घर लौट आयीं। इस घटना के पहले इन बूढ़े शिव के सामने कोई भी कामना-पूर्ति के लिये धरना नहीं देता था। उपरोक्त घटना के बाद से बहुत-से लोग वहाँ धरना देने लगे। – सं.

* उद्बोधन, वर्ष ९७, अंक १०, कार्तिक १४०२, पृ. ५८५-८६

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

११९. भये प्रकट कृपाला दीनदयाला

अब्दुल रहीम खानसामा अकबर के नवरत्नों में से एक थे। मुसलमान होते हुये भी भगवान श्रीकृष्ण के प्रति उनकी अपार भक्ति थी। जब अकबर को पता चला कि एक हिन्दू राजा उनके अधीन होते हुए भी दूसरे राजाओं को उनके विरुद्ध भड़का रहा है, तो उन्होंने रहीम को आदेश दिया कि वे उस राजा को चेतावनी दें। रहीम ने राजा पर आक्रमण करके उसे बन्दी बनाया। रहीम के समक्ष उपस्थित किये जाने पर राजा ने उनसे वादा किया कि अब वह बादशाह के खिलाफ कोई काम नहीं करेगा और हमेशा स्वामिभक्त बना रहेगा। इस पर रहीम ने उसे मुक्त कर दिया।

दूसरे ही दिन राजा ने रहीम के पास आकर कहा – ''आप और मैं – दोनों ही श्रीकृष्ण भगवान के भक्त हैं। यहाँ से प्रस्थान करने से पहले मैं आपको भोज के लिये आमंत्रित करता हूँ।'' रहीम ने निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया। थोड़ी ही देर बाद एक बालक रहीम के पास आया और बोला, ''राजा के मन में खोट है। वह भोजन में विष मिला कर आपको मारना चाहता है। आप भोज में न जायें।'' रहीम ने कहा, ''भगवान का कोई भक्त झूठ नहीं बोलता और धोखा भी नहीं देता।'' इस पर बालक ने जिद की कि वे किसी भी हालत में भोज में न जाये, अन्यथा वह प्राण त्याग देगा। रहीम को बालक की जिद देखकर आश्चर्य हुआ। वे ताड़ गये कि यह बालक निश्चय ही दीनदयालु भगवान कृष्ण ही हैं। उन्होंने कहा, ''मैंने आपको पहचान लिया है कि आप दीनबन्धु गोपाल कृष्ण हैं।'' उन्होंने अश्रुविह्वल नेत्रों से प्रभु के पैर पकड़ लिये। आँखें खोलने पर जब उन्होंने देखा, तो बालक अदृश्य हो चुका था।

रहीम ने सैनिकों को आदेश दिया कि वे राजा को बन्दी बना लें। राजा को जब पुन: उनके समक्ष उपस्थित किया गया, तो उन्होंने राजा से कहा, ''भगवान श्रीकृष्ण का नाम लेकर आप जहर देकर मुझे मरवाना चाहते थे, इसी कारण मैंने विवश होकर आपको पुन: बन्दी बनाया।'' राजा को आश्चर्य हुआ कि उनके मन की बात रहीम को कैसे पता चली। पूछने पर जब उन्होंने बताया कि बालक के रूप में स्वयं भगवान कृष्ण ने उन्हें सावधान किया था, तो राजा को पश्चाताप हुआ कि वहाँ उन जैसे भगवान के सच्चे भक्त को पहचान न सका और वह उनके अहित की बात सोच रहा था। उसकी आँखों से पश्चात्ताप की अश्रुधारा बह निकली। रहीम ने देखा कि राजा का सचमुच ही हृदय-परिवर्तन हुआ है, तो उन्होंने उसे क्षमा कर दिया।

१२०. विवेकी को सुख मिले सदा

एक बार पृथ्वी पर बारह वर्षों तक वर्षा न होने से घोर अकाल पड़ा। भूख से पीड़ित प्रजा अन्न के अभाव से त्रस्त होकर भटकने लगी। सप्तर्षि भी भूख से व्याकुल होकर घूमते-घूमते वृषादर्भि राजा के राज्य में आये। क्षुधार्त तपस्वियों के राज्य में आने का समाचार पाकर राजा धन-धान्य का भण्डार लेकर उनके पास पहुँचे, किन्तु उन्होंने राजा का दान अमंगलकारी मानकर लेने से इनकार कर दिया।

ऋषियों के आगे बढ़ने पर राजा ने गूलर के फलों में सोना भरकर उन्हें मार्ग में बिखेर दिये, किन्तु फलों का आकार बड़ा देखकर ऋषियों ने उनमें रत्नभरा होगा – ऐसा मानकर गूलरों की ओर ध्यान नहीं दिया। आगे बढ़ने पर वे पुष्कर सरोवर के पास आये। वृषादर्भि राजा ने इसे अपना अपमान मानकर एक राक्षसी को ऋषियों की हत्या करने भेजा। सरोवर में कमल के फूलों को देखकर ऋषियों ने उसी को खाकर भूख मिटानी चाही। वे जब सरोवर में जाने के लिये सीढ़ियों पर पैर रखने लगे, तो राक्षसी ने आगे आकर उनका नाम पूछा। सप्तर्षियों ने अपना-अपना नाम बताया ही था कि उनके पीछे एक परिव्राजक आगे आया और उसने अपना नाम शुन:सप बताया। इस नाम को अटपटा जानकर राक्षसी ने उनसे दुबारा पूछा। इससे परिव्राजक को गुस्सा आ गया और उसने छिपाये हुए वज्र से राक्षसी का वध कर डाला। फिर उन्होंने अपने मूल रूप में आकर ऋषियों को बताया कि वे देवराज इन्द्र हैं।

स्वर्ण माया रूपी ठगिनी है। मन में तृष्णा के उदय होने पर उसके वशीभूत न होकर त्याग की भावना उत्पन्न होना विवेक है। विवेक रूपी अंकुश से मन को वश में किया जा सकता है। ऋषियों ने सामने सोना देखकर भी उसकी उपेक्षा की थी, इसीलिये इन्द्र स्वर्गलोक में ले जाने के लिये उनके पीछे-पीछे चले आये थे। स्वर्ग के द्वार उनके लिये खुल गये थे। अब वहीं उनकी क्षुधा का शमन हो सकता था।

क्रोध पर विजय (३)

स्वामी बुधानन्द

(हमें अपने जीवन में प्राय: ही अपने तथा दूसरों के क्रोध का सामना करना पड़ता है, परन्तु हम नहीं जानते कि क्रोध क्या है, इसकी उत्पत्ति कैसे और कहाँ होती है, और उस पर कैसे नियंत्रण किया जाय। इसी विषय को लेकर रामकृष्ण संघ के एक विद्वान् संन्यासी स्वामी बुधानन्द जी ने १९८२ ई. में रामकृष्ण मिशन के दिल्ली केन्द्र में अंग्रेजी में एक व्याख्यान-माला प्रस्तुत की थी। बाद में ये व्याख्यान मद्रास मठ के आंग्ल मासिक 'वेदान्त-केसरी' में धारावाहिक रूप से और अन्तत: एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए। आधुनिक जीवन में उनकी उपादेयता को देखते हुए 'विवेक-ज्योति' में हम उसका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

आहार की भूमिका

श्री शंकराचार्य के मतानुसार शास्त्रों में 'आहार' शब्द का तात्पर्य उन सभी वस्तुओं से है, जिन्हें इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है; यथा – शब्द, रूप, गन्ध आदि। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया गया गलत खाद्य आसक्ति, द्वेष तथा भ्रान्ति को उत्पन्न करके मन को चंचल बना देता है और उसे नियंत्रण में लाना कठिन हो जाता है। इनसे मुक्त होने पर मन शुद्ध हो जाता है। अपने स्वभाव में प्रयासपूर्वक सत्त्वगुण का प्राबल्य लाने के लिये हमें सात्त्विक आहार ग्रहण करने और राजसिक तथा तामसिक आहारों से दूर रहने की आवश्यकता है।

भोजन काफी कुछ व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर करता है। उपनिषद् (छा. ७/२६/२) कहते हैं – **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः** – "आहार शुद्ध होने पर मन शुद्ध हो जाता है; मन शुद्ध होने पर स्मृति सुदृढ़ हो जाती है; तब उसे संसार से बाँधकर रखनेवाली सभी गाँठें खुल जाती हैं।"

गीता के अनुसार – "जो भोजन उत्साह, ऊर्जा, शक्ति, आरोग्य तथा भूख को बढ़ाता हो; जो मधुर, स्निग्ध, पुष्टिकर तथा सुस्वादु हो, वह सात्त्विक लोगों का प्रिय होता है।"

ऐसा स्वभाव बनाने के लिये, जिसमें रजस् तथा तमस् हमेशा दबे रहें, भागवत (११/१३/६) की निम्नलिखित शिक्षा के आलोक में और भी कई चीजें करने की आवश्यकता होगी – **सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्व-विवृद्धये** – "सत्त्व -गुण में वृद्धि के लिये व्यक्ति को केवल सात्त्विक वस्तुओं का ही उपयोग करना चाहिये।" उपरोक्त उपदेश को कार्यरूप में कैसे परिणत किया जाय – यह बात शायद हम स्वत: नहीं समझ पाते, परन्तु सौभाग्यवश हमारे मार्गदर्शन हेतु इस पर श्रीधर स्वामी की निम्नलिखित व्याख्या उपलब्ध है –

"केवल उन्हीं शास्त्रों के अनुसार चलना होगा, जो निवृत्ति अर्थात् ब्रह्म के साथ एकत्व की ओर चलना सिखाते हैं और उनके अनुसार नहीं चलना है, जो प्रवृत्ति या बहुत्व में ही लिप्त रहना (राजसिकता) या जो पूर्णत: हानिकारक सिद्धान्त (तामसिकता) सिखाते हैं।

"इसी प्रकार पवित्र जल का उपयोग करना होगा, न कि सुगन्ध आदि से युक्त जल का। व्यक्ति को सांसारिक या दुराचारी लोगों के साथ नहीं, बल्कि आध्यात्मिक लोगों से ही मेलजोल रखना चाहिये। एकान्त स्थान को चुनना होगा, न कि व्यस्त राजमार्ग या जूआघर।

"प्रतिदिन ध्यान के लिये ऐसा समय नहीं चुनना चाहिये, जिसमें व्यवधान या आलस्य का प्रकोप हो, बल्कि प्रात:काल या ऐसा ही कोई उपयुक्त समय चुनना चाहिये।

"स्वार्थपूर्ण तथा हानिकारक कर्मों के स्थान पर केवल धर्मयुक्त तथा नि:स्वार्थ कर्म ही करने होंगे। धर्म के पवित्र तथा अहानिकर रूप की ही दीक्षा लेनी होगी; न कि उन प्रकारों की, जो बड़े श्रमसाध्य या अशुद्ध तथा हानिकारक हैं। ध्यान ईश्वर का करना होगा, न कि भोग्य वस्तुओं का या बदला लेने की इच्छा से शत्रुओं का।

"ॐ आदि मंत्रों को प्राथमिकता देनी होगी, न कि उन मंत्रों को, जो सांसारिक समृद्धि लाते हैं या दूसरों को हानि पहुँचाते हैं। हमें मन की पवित्रता पर बल देना होगा, न कि शरीर, मकान आदि की सफाई पर।

व्यक्ति के मनो-शारीरिक तंत्र में गुणों के ताने-बाने को पूरी तौर से सुधारकर आत्म-रूपान्तरण लानेवाली यह प्रक्रिया धीमी तथा कठिन प्रतीत हो सकती है। परन्तु क्रोध के मूल कारण – व्यक्ति के स्वभाव में रजोगुण के प्राबल्य पर विजय पाने की यही सर्वाधिक सुनिश्चित तथा निर्भरयोग्य तरीका है।

इसका अभ्यास करने से व्यक्ति के स्वभाव में सत्त्वगुण की निरन्तर वृद्धि होती है। क्रोध पर विजय पाने का कोई भी अन्य उपाय इससे अधिक कारगर नहीं हो सकता।

४. योग के द्वारा क्रोध को वशीभूत करना

पतंजलि ने साधक को सर्वोच्च मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से ही अपने 'योग-दर्शन' की रचना की है। पूछा जा सकता है कि क्रोध पर विजय पाने के तात्कालिक उद्देश्य से क्या इन साधनाओं का अभ्यास करना आवश्यक तथा व्यावहारिक है। क्रोध की विध्वंसक सम्भावनाओं को देखते हुए यह

उचित ही प्रतीत होता है कि इसके दुष्परिणामों से बचने के लिये हर उपलब्ध साधन का उपयोग किया जाय।

क्रोध के विषय में योगेश्वर श्रीकृष्ण की चेतावनी का हमें पुन: स्मरण करना होगा –

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। २/६३

– "क्रोध से बुद्धि भ्रमित हो जाती है, बुद्धि भ्रान्त होने पर (भले विचारों की) स्मृति लुप्त हो जाती है, स्मृतिलोप हो जाने पर (उचित-अनुचित) बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धिनाश के फलस्वरूप व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है ।" **प्रणश्यति** – व्यक्ति पूरी तौर से बरबाद हो जाता है !

इस प्रकार साधना-पथ की एक सर्वाधिक प्रबल बाधा को दूर करने के लिये क्रोध पर विजय-रूपी यह प्रारम्भिक कदम उठाना आवश्यक है। यह एक सामान्य ज्ञान की बात है कि जो व्यक्ति क्रोध पर विजय पाना नहीं जानता, वह जन्म और मृत्यु पर विजय पाना कैसे जानेगा; दूसरे शब्दों में – वह संसार-सागर को कैसे पार कर सकेगा ! इसलिये संसार से मुक्ति-रूपी अपने परम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, हम निश्चित रूप से क्रोध पर विजय पाने के लिये योग की साधनाओं का उपयोग कर सकते हैं।

योग की साधनाएँ मनुष्य को जीवन की हर परिस्थिति में सहायता करने की दृष्टि से रची गयी हैं। स्वामी विवेकानन्द दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि मनुष्य चाहे जहाँ भी और चाहे जिस भी परिस्थिति में हो, धर्म उसका सहायक सिद्ध होगा। गीता में भी कहा गया है – **स्वल्पमपि अस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** – "अल्प-सा भी अपनाया गया यह धर्म महान् भय से रक्षा करता है।" एक अपरिपक्व तथा असंस्कृत मानव को, योग की साधनाओं की सहायता से, क्रमश: उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिये एक सुयोग्य यंत्र के रूप में गढ़ा और तराशा जा सकता है।

क्रोध पर पतंजलि के विचार

पातंजल-दर्शन के आलोक में क्रोध की परिभाषा होगी – क्रोध मन या चित्त की एक वृत्ति है। चित्तवृत्ति को एक तरह का विचार-तरंग माना जा सकता है। परन्तु यह विचार-तरंग कुछ ऐसी रोचक जटिलताओं से परिपूर्ण है; और ये जटिलताएँ हम में से प्रत्येक के साथ गहराई से सम्बन्ध रखती हैं। पतंजलि के मतानुसार चित्त तीन चीजों से मिलकर बना है – मनस्, बुद्धि तथा अहंकार।

(१) मनस् – यह अंकन की क्षमता है, जो इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् से एकत्रित अनुभूतियों को ग्रहण करता है।

(२) बुद्धि – विचार की क्षमता, जो इन अनुभूतियों का वर्गीकरण करती है और उन पर प्रतिक्रिया करती है।

(३) अहंकार – यह अहं का भाव है, जो इन अनुभूतियों के स्वाधिकार का दावा करता है और उन्हें व्यक्तिगत ज्ञान के रूप में संग्रहित करता है।

एक उदाहरण लेते हैं। मान लीजिये, मन सूचित करता है – "देखो, उधर से एक विशाल क्रुद्ध जानवर आ रहा है।" बुद्धि कहती है – "हाँ, वह एक पागल हाथी है, वह मार्ग में पड़नेवाले किसी भी व्यक्ति पर आक्रमण कर देगा।" तब अहंकार चिल्लाता है – "अरे, यदि मैं इसके रास्ते में पड़ा, तो मेरी जान चली जायेगी। चलो, भाग चलें।"

सबमें ईश्वर को व्याप्त देखना

भारत की परम्परागत विचार-धारा के अनुसार, मनुष्य के अस्तित्व से सम्बन्धित होने के कारण उसका भला या बुरा सब कुछ ब्रह्म या ईश्वर से जुड़ा हुआ है। इसी प्रकार क्रोध का मूल भी परम तत्त्व में ढूँढ़ा जा सकता है।

ईश्वर अस्वीकार्य सत्य है और अपनी परिभाषा के अनुसार ही सर्वव्यापी है। वह सर्वत्र और सभी वस्तुओं में विद्यमान है। वेदान्त और गीता में जीव में निहित ईश्वर को आत्मा कहा गया है। पतंजलि इसे पुरुष कहना पसन्द करते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है – शरीर में निवास करनेवाला। क्रोध पर विचार करते समय, जीवन में निहित ईश्वर – इस दिव्य रहस्य को स्मरण रखना अन्तर्दृष्टि तथा ज्ञान का द्योतक सिद्ध हो सकता है। वस्तुत: गीता के सोलहवें अध्याय (१६/१८) में श्रीकृष्ण इस तथ्य का एक कड़वा सत्य बताते हैं – "ये आसुरी वृत्ति के लोग अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोध के अधीन होकर मुझसे (अर्थात् स्वयं के तथा दूसरों के शरीरों में स्थित ईश्वर से) घृणा करते हैं।" कोई व्यक्ति अपने निकट सम्बन्धियों या आश्रितों को नियंत्रण में रखने के लिये स्वयं को उन्हें दण्ड देने का अधिकारी सोच सकता है, परन्तु व्यक्ति को स्मरण रखना चाहिये कि जब-जब किसी व्यक्ति पर अत्याचार होता है, तब-तब उसमें रहने-वाले ईश्वर कष्ट पाते हैं। अतएव यदि हममें यह संवेदनशीलता हो, तो हमारा क्रोध ईश्वर से असम्बद्ध नहीं है।

अनुभूति की प्रक्रिया

पतंजलि के मतानुसार मन बुद्धिमान तथा चेतन प्रतीत होते हुए भी, वैसा नहीं है। हमारी चेतना-रूप आत्मा ही बुद्धि का तत्त्व है। आत्मा की चेतना तथा बोध को ही प्रतिबिम्बित मात्र करके मन स्वयं चेतन तथा बोधयुक्त प्रतीत होता है। जिसे हम ज्ञान या अनुभव कहते हैं, वह मन की एक वृत्ति या तरंग मात्र है। आत्मा ही वास्तविक द्रष्टा है; मन तथा इन्द्रियाँ देखने के यंत्र मात्र हैं। प्रत्येक अनुभूति के साथ एक अहं भाव जुड़ा होता है – 'मैं इसे जानता हूँ।' यह 'मैं' क्या है? यह आत्मा नहीं है; वह तो अज्ञात रह जाता

है। पतंजलि अहं की परिभाषा करते हुए बताते हैं कि यह द्रष्टा या आत्मा का, मन तथा इन्द्रियों रूपी दर्शन के यंत्रों के साथ तादात्म्य को 'अहं' कहते हैं। अहं का भाव इस मिथ्या तादात्म्य से उत्पन्न होता है। जब कोई घटना या वस्तु हमारे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण की जाती है, तब मन में एक विचार-तरंग उठता है। हमारा अहं भाव या अस्मिता उस विचार तरंग के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है और उसे सुखद या दुखद के रूप में अंकित कर लेती है। अहं भाव ही, एक में महसूस करता है कि 'मैं सुखी हूँ' और दूसरे में महसूस करता है कि 'मैं दुखी हूँ'। अहं भाव का यह मिथ्या तादात्म्य ही हमारे सारे दु:खों का मूल कारण है। जो सुखद के रूप में अनुभूत होता है, वह भी खोने की आशंका से चिन्ता का कारण बन जाता है।

उल्टे विचारों की पद्धति

योग की परिभाषा करते हुए पतंजलि – **चित्तवृत्ति-निरोध** – विचार-तरंगों के नियंत्रण को 'योग' कहते हैं। उनके मतानुसार जब हम क्रोध पर नियंत्रण की बात करते हैं, तो हमें उस पर उसी तरीके का उपयोग करना होगा, जिसका हम विचार-तरंगों के नियंत्रण के लिये करते हैं। इस विषय में एक तालाब का दृष्टान्त दिया जाता है। तालाब की सतह पर उठनेवाली तरंगों के कारण उसका जल मटमैला तथा चंचल हो जाता है और इस कारण हम उसके तल को नहीं देख सकते। जब तरंगें ठहर जायँ और जल शान्त हो जाय, तब सम्भव है कि हम उसके तल की एक झलक पा लें। यह तालाब ही चित्त है, वृत्तियाँ तरंगें हैं और तालाब का तल हमारी वास्तविक आत्मा है।

इसी प्रकार की वृत्तियों की बारम्बार आवृत्ति क्रमश: हमारे संस्कारों या प्रवृत्तियों का निर्माण करती है और उसके बाद वे संस्कार भी उसी की मनोवृत्तियों को जन्म देते हैं। इस प्रकार यह प्रक्रिया दोनों दिशाओं में कार्य करती है। यहाँ पर हम क्रोध की समस्या के सम्मुखीन होते हैं। यदि मन में बारम्बार क्रोध तथा आक्रोश के विचारों को आने दिया जाय, तो हम देखेंगे कि इन क्रोध-वृत्तियों ने अज्ञात रूप से क्रोध-संस्कारों का निर्माण कर लिया है, जो हमें अपने दैनन्दिन जीवन में बारम्बार क्रोध प्रकट करने को प्रेरित करेंगी। जो लोग क्रोधी स्वभाव के माने जाते हैं, उन लोगों ने वस्तुत: धीरे-धीरे क्रोध-संस्कारों को संचित कर लिया है। ऐसे लोग आसानी से विकल्प नामक शाब्दिक भ्रम के शिकार बन जाते हैं। पतंजलि (१/९) इस वृत्ति को इन शब्दों में परिभाषित करते हैं – **शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तु-शून्यो विकल्पः** – यदि किसी शब्द द्वारा सूचित वस्तु का अस्तित्व न हो, तो उसे विकल्प या शब्दजात भ्रम कहते हैं।

इस पर टिप्पणी करते हुए स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं – ''विकल्प नामक और एक प्रकार की वृत्ति है। हम कोई बात सुनते हैं और उसके अर्थ पर शान्त भाव से विचार किये बिना ही झट से एक निष्कर्ष निकाल लेते हैं। यह चित्त की दुर्बलता है। अब संयम को अच्छी तरह समझा जा सकेगा। मनुष्य जितना ही दुर्बल होता है, उसकी संयम की शक्ति भी उतनी ही कम होती है। तुम अपने आपको सदा इस संयम की कसौटी पर कसो। जब तुममें क्रोध या दुखी होने का भाव आये, तो उस समय विचार करके देखना कि यह कैसे हो रहा है; देखना होगा कि कैसे कोई सूचना तुम्हारे पास आते ही तुम्हारे मन की वृत्तियों में परिणत हो जाती है।''

परिवार तथा समाज में दीख पड़नेवाली अनेक दु:खद घटनाएँ – चाहे वे स्वत: होनेवाली हों या स्वयं के कारण – ये शाब्दिक भ्रान्तियों की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। यदि हम सचेत रहकर अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों में से विकल्पों या शाब्दिक भ्रान्तियों को निकाल दें, तो दु:खद या क्रोधपूर्ण मुठभेड़ों के अवसरों की संख्या काफी घटायी जा सकेगी। क्रोध के लिये कोई सुनिश्चित या अलंघ्य कारण नहीं होता। कुछ विशेष स्वभाव के लोगों को आगबबूला करने के लिये केवल कोई छोटा-मोटा बहाना ही काफी है। जो परिस्थिति एक क्रोधी स्वभाव वाले व्यक्ति को क्रोध से लाल-पीला कर देती है, वही क्रोध-संस्कार से रहित व्यक्ति के मन में उपहास की सृष्टि करती है। क्रोध का कोई कारण नहीं होता। बल्कि क्रोधी स्वभाव का व्यक्ति अपने क्रोध को व्यक्त करने का एक कारण ढूँढ़ लेता है। इसलिये क्रोध पर विजय पाने हेतु व्यक्ति के लिये अपने चरित्र में बदलाव लाना आवश्यक है।

व्यक्ति का चरित्र उसके द्वारा अर्जित संस्कारों का संकलन है, जिसमें बदलाव लाना असम्भव नहीं है। जैसे नदी का बालुकामय तट काफी स्थिर दिखने के बावजूद, पानी की धाराओं में परिवर्तन तथा अन्य दिशा में बहाव के फलस्वरूप बदल सकता है, उसी प्रकार चित्त-वृत्तियों में परिवर्तन से व्यक्ति के चरित्र में भी परिवर्तन आ सकता है। चरित्र में कैसे परिवर्तन लाया जा सकता है, इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द अपने 'राजयोग' ग्रन्थ में कहते हैं –

''प्रत्येक कार्य से मानो चित्तरूपी सरोवर के ऊपर एक तरंग खेल जाती है। यह कम्पन कुछ समय बाद नष्ट हो जाता है। फिर क्या शेष रहता है? – केवल संस्कार-समूह। मन में ऐसे बहुत-से संस्कार पड़ने पर वे एकत्र होकर आदत के रूप में परिणत हो जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि 'आदत ही द्वितीय स्वभाव है'। केवल द्वितीय स्वभाव ही नहीं, वरन् वह 'प्रथम' स्वभाव भी है – मनुष्य का समस्त स्वभाव इस आदत पर निर्भर रहता है। हमारा अभी जो स्वभाव है, वह पूर्व अभ्यास का फल है। यह जान सकने से कि सब कुछ अभ्यास का ही फल है, मन में शान्ति मिलती

है; क्योंकि यदि हमारा वर्तमान स्वभाव केवल अभ्यासवश हुआ हो, तो हम चाहें तो किसी भी समय उसे नष्ट भी कर सकते हैं। हमारे मन में जो विचार-धाराएँ बह जाती हैं, उनमें से प्रत्येक अपना एक एक चिह्न या संस्कार छोड़ जाती हैं। हमारा चरित्र इन सब संस्कारों की समष्टि-स्वरूप है। जब कोई विशेष वृत्ति-प्रवाह प्रबल होता है, तब मनुष्य उसी प्रकार का हो जाता है। जब सद्गुण प्रबल होता है, तब मनुष्य सत् हो जाता है। यदि बुरा भाव प्रबल हो, तो मनुष्य बुरा हो जाता है। यदि आनन्द का भाव प्रबल हो, तो मनुष्य सुखी होता है। बुरे अभ्यास का एकमात्र प्रतिकार है – उसका विपरीत अभ्यास। हमारे चित्त में जितने बुरे अभ्यास संस्कारबद्ध हो गये हैं, उन्हें अच्छे अभ्यास द्वारा नष्ट करना होगा। केवल सत् कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; बुरे संस्कारों को रोकने का बस यही एक उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक के उद्धार की कोई आशा नहीं है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का – कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है और ये अभ्यास नये और सत् अभ्यास से दूर किये जा सकते हैं। चरित्र, मात्र बारम्बार अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस प्रकार का पुन: पुन: अभ्यास ही चरित्र का सुधार कर सकता है। (विवेकानन्द साहित्य, १/१२२-२३)

सूक्ष्म संस्कारों पर विजय

इन तथ्यों तथा विचारों को मन में रखकर, पतंजलि के उपदेशों के आलोक में हमें क्रोध पर विजय पाने के व्यावहारिक उपायों को निम्नलिखित क्रम से अपनाना होगा –

(१) पतंजलि की शिक्षाएँ दृढ़तापूर्वक यह विश्वास दिलाती हैं कि क्रोध पर पूरी तौर से विजय पाया जा सकता है। जो कोई भी इसके लिये दृढ़ संकल्प हो और यदि उसमें इसके लिये आवश्यक अभ्यास करने का धैर्य हो, तो वह क्रोधहीनता की उपलब्धि कर सकता है।

(२) क्रोध पर विजय पाने के लिये शुरू में ही इसकी वास्तविकता को स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा।

(३) क्रोध विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो सकता है। परन्तु क्रोध की विविध अभिव्यक्तियों के नियंत्रण के प्रयास से क्रोध पर विजय नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

(४) मूल रूप से क्रोध एक चित्तवृत्ति, विचार-तरंग या मन का एक रूपान्तरण है। क्रोध पर विजय पाने के लिये मन की इन वृत्तियों पर नियंत्रण करना होगा।

स्वामी विवेकानन्द अपने 'राजयोग' ग्रन्थ में कहते हैं –

"स्थूल रूप से प्रकट चित्त-वृत्तियों को हम समझ सकते हैं और उनका अनुभव कर सकते हैं; उनका दमन अधिक सुगमता से किया जा सकता है। पर इन सब सूक्ष्मतर संस्कारों का दमन कैसे होगा? जब मैं क्रुद्ध होता हूँ, तब मेरा सारा मन मानो क्रोध की एक बड़ी तरंग में परिणत हो जाता है। मैं उसका अनुभव कर सकता हूँ, उसे मानो हाथ में लेकर हिला-डुला सकता हूँ; उसके साथ अनायास ही जो इच्छा हो, कर सकता हूँ, उसके साथ लड़ाई कर सकता हूँ; पर यदि मैं मन के अति गहरे क्षेत्र में न जा सकूँ, तो कभी भी मैं उसे जड़ से उखाड़ने में सफल न हो सकूँगा।

"कोई मुझे दो कड़ी बातें सुना देता है और मैं अनुभव करता हूँ कि मेरा खून गरम होता जा रहा है।... जब उसने मुझे सुनाना आरम्भ किया था, उस समय मुझे अनुभव हो रहा था कि मुझमें क्रोध आ रहा है। उस समय क्रोध अलग था और मैं अलग; किन्तु जब मैं क्रुद्ध हो उठा, तो मैं ही मानो क्रोध में परिणत हो गया। इन वृत्तियों को जड़ से – उनकी सूक्ष्मावस्था में ही उखाड़ना होगा; वे हमारे ऊपर कार्य कर रही हैं, यह समझने के पहले ही उन पर संयम करना होगा। संसार के अधिकांश लोगों को तो इन वृत्तियों की सूक्ष्मावस्था, जिसमें ये वृत्तियाँ अवचेतन अर्थात् ज्ञान की निम्न भूमि से थोड़ी-थोड़ी करके उदित होती हैं, के अस्तित्व का पता नहीं। जब किसी सरोवर की तली से एक बुलबुला ऊपर उठता है, तब हम उसे देख नहीं पाते; इतना ही नहीं, जब वह सतह के बिल्कुल पास आ जाता है, तब भी हम उसे देख नहीं पाते; पर जब वह ऊपर उठकर फट पड़ता है और एक लहर फैला देता है, तभी हम उसका अस्तित्व जान पाते हैं। इसी प्रकार जब हम इन वृत्तियों को उनकी सूक्ष्मावस्था में ही पकड़ सकेंगे, तभी हम उन्हें रोकने में समर्थ हो सकेंगे।

"वासनाओं को संयत करने के लिये हमें उनके मूल में जाना होगा। तभी हम उनके बीज तक को जला डालने में सफल होंगे। जैसे भुने हुए बीज जमीन में बोने पर अंकुरित नहीं होते, वैसे ही ये वासनाएँ भी कभी उदित नहीं होंगी।"

❖ **(क्रमश:)** ❖
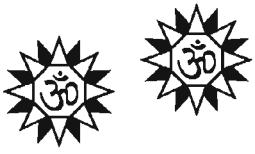
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (९)
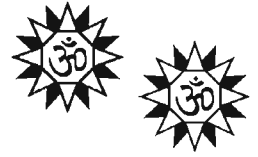
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।।३९ ।।

अपरिग्रह में प्रतिष्ठित होने पर जन्मान्तर, पूर्वजन्मों की बातों का स्मरण होने लगता है।

व्याख्या – यम, नियम की साधनायें, मानव को कितनी उन्नत कर सकती हैं, इसे अनेकों बार महापुरुषों के जीवन में देखा गया है। इन सिद्धान्तों में विश्वास होने पर, साधक साधना-मार्ग के सभी विघ्नों की उपेक्षा कर, उनका अतिक्रमण कर उत्साह के साथ उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

अहिंसा – विवेकी साधक जब अपने मन से हिंसा-वृत्ति बिल्कुल निकाल देते हैं, तब किसी अन्य प्राणी के उनके पास आने पर, उस योगी की मानसिक शक्ति के प्रभाव से, उस प्राणी के मन में हिंसा-वृत्ति नहीं उठ सकती है। चैतन्य महाप्रभु के जीवन में इसका उदाहरण प्राप्त होता है।

सत्य – सत्य-पालन की साधना से बुद्धि के पूर्णतः स्थिर हो जाने पर, योगी की हर वाणी कार्य में, व्यवहार में परिणत होती है, उसके जीवन में चरितार्थ होने लगती है। इसका उदाहरण है – श्रीरामकृष्ण के मुख से रक्त का निकलना।

अस्तेय – 'स्वयं उपार्जन कर जीवन व्यतीत करूँगा, किसी को बिना बताये, उसकी कोई वस्तु ग्रहण नहीं करूँगा' – इस प्रकार की साधना में, व्रत में जो लोग सिद्ध हो जाते हैं, वैसे लोगों के मन में यदि किसी वस्तु की आकांक्षा भी हो, तो वह वस्तु चाहे कितनी भी मूल्यवान क्यों न हो, संयोगवश वह वस्तु उसे अवश्य मिल जाती है।

ब्रह्मचर्य – मानव-जीवन में सभी कार्यों में सफलता-प्राप्ति हेतु एकमात्र मार्ग है शक्ति और उसके अनुसार उत्साह, पुरुषार्थ। वीर्य-धारण करने से शरीर-मन में जिस संयम-शक्ति का विकास होता है, उससे वह बाह्य संसार में भी सारी वस्तुओं को अपने वश में कर सकता है, उन्हें प्राप्त कर सकता है। वीर्य-धारण करने के लिये अनन्त जन्मों की पशु-वृत्ति, पाशव-संस्कार के विरुद्ध सीना तानकर खड़ा होना होगा। संसार के परे आनन्दमय चिन्मय सत्ता के प्रति मन के आकर्षण का बोध नहीं होने से, वीर्य-धारण की शक्ति नहीं आती है।

अपरिग्रह – अपरिग्रह की साधना में मन बहुत सरल और पवित्र हो जाता है। योगी के शुद्ध मन में उस समय केवल पूर्व-जन्म की स्मृति कभी-कभी जाग्रत होती रहती है एवं भविष्य जन्म की बात भी वे जान सकते हैं।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।।४० ।।

शौच में, पवित्रता में प्रतिष्ठित होने पर अपने शरीर के प्रति भी घृणा उत्पन्न होती है एवं दूसरे का संग करने की भी इच्छा नहीं होती है।

व्याख्या – आध्यात्मिक साधना का एक अनिवार्य अंग है – पवित्रता की साधना करना, पवित्रता का अभ्यास करना। पवित्रता के विषय में दृष्टिकोण स्पष्ट होने से अनायास ही समझ में आ जाता है कि हमलोगों की यह देह एक मल का भण्डार है, यहाँ तक कि मन में भी कभी-कभी अपवित्रता, अशुद्धता पायी जाती है। इसलिये जन्म लेने का मूल कारण, वासना के त्याग करने की प्रवृत्ति मन में जाग्रत होती है। यह देह अत्यन्त अपवित्र है, जिसे इसका बोध नहीं है, वह इस देह को ही सजा-सँवारकर रखने के लिये तथा अनेकों प्रकार के देह-भोग करने के लिये कितना व्यर्थ उद्यम करके कष्ट पाता है, यह हमलोगों को सदा ही देखने को मिलता रहता है।

यह शरीर अत्यन्त अपवित्र वस्तु है, इसका बोध हो जाने पर दूसरे शरीर के साथ सम्भोग एवं प्रेम, जो कि संसार का प्रमुख आकर्षण है, वह दूर हो जाता है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-योग्यत्वानि च ।।४१ ।।

पवित्र होने से सत्त्वशुद्धि, मन में प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियजय, आत्मदर्शन, परमात्मा के साक्षात्कार करने की योग्यता की उपलब्धि होती है।

व्याख्या – मन से अपवित्रता का भाव निकल जाने पर, सत्त्वगुण का विकास होता है, उससे मन में सर्वदा शुद्ध-पवित्र विचार आते हैं एवं मन सदा प्रसन्न रहता है। जिस विषय में मन को लगाया जायेगा, मन उसी में एकाग्र हो जाता है। मन अचंचल, स्थिर रहता है, इसलिये वह साधक इन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर सकता है। अतः पवित्रता की साधना के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति का मार्ग उन्मुक्त हो जाता है।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ।।४२।।

सन्तोष से परमसुख की प्राप्ति होती है।

व्याख्या – सन्तोष की साधना में मन अभ्यस्त हो जाने पर मन सदा स्थिर रहता है, इसके कारण शुद्ध-बुद्धि का

विकास होता है। आत्मज्ञान-प्राप्ति का एक मात्र पथ शुद्ध बुद्धि है।

कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।।४३ ।।

तपस्या के द्वारा अशुद्धि, अपवित्रता के नाश हो जाने से शरीर और इन्द्रियों में अनेकों प्रकार की शक्तियाँ आती हैं।

व्याख्या – तप: सिद्धि – प्रकृति में सुख-दुख ये दो भाव, जो सदा कार्य कर रहे हैं, उनसे अविचलित रहने के लिये ही तपस्या की जाती है। उससे शरीर एवं इन्द्रियों को पूर्णत: अपनी इच्छानुसार उनका संचालन किया जा सकता है। जैसे लम्बे समय तक उपवास करके जीवित रहने की शक्ति, ठण्डी-गर्मी आदि असुविधाओं की उपेक्षा कर, तीर्थ-तीर्थ भ्रमण करना तथा निन्दा-प्रशंसा-अपमान आदि की उपेक्षा करना आदि।

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः ।।४४ ।।

मन्त्र आदि के जप के अभ्यास द्वारा इष्ट देवता का दर्शन प्राप्त होता है।

व्याख्या – स्वाध्याय का तात्पर्य इष्ट देवता का बीज मन्त्र और उनके नाम से है। भक्त गण कहते हैं – नाम और नामी अभेद होता है। इष्ट-मन्त्र का जप करते-करते इष्ट का साक्षात्कार होता है, इसे सभी लोग जानते हैं।

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ।।४५ ।।

ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा समाधि प्राप्त होती है।

व्याख्या – भगवान का दर्शन प्राप्त करने के लिये उनके चिन्तन-मनन में तन्मय रहना चाहिये, निमग्न रहना चाहिये। इसे ही ईश्वर-प्रणिधान कहते हैं। तन्मयता ही समाधि का एक मात्र कारण है। अर्थात् एकमात्र तन्मयता से ही समाधि की प्राप्ति होती है। तन्मयता का दूसरा नाम समाधि है।

स्थिरसुखमासनम् ।।४६ ।।

जिस अवस्था में बहुत देर तक स्थिर एवं सुखपूर्वक बैठा जाय, उसे आसन कहते हैं।

प्रयत्न-शैथिल्यानन्त-समापत्तिभ्याम् ।।४७ ।।

शरीर के प्रति अभिमान का त्याग एवं अनन्त सर्वव्यापकत्व का चिन्तन करने से आसन स्थिर और सुखकर होता है।

ततोद्वन्द्वाभिघातः ।।४८ ।।

इस प्रकार आसन-सिद्ध हो जाने पर ठण्डी-गर्मी आदि के द्वन्द्व साधक को प्रभावित नहीं कर सकते, उसके योग में बाधक नहीं बनते।

व्याख्या – हमारी दसों इन्द्रियों की सेवा में ही मन विशेषकर संलग्न रहता है। इस संसार में चिन्तकों की, विवेकियों की संख्या बहुत कम है। उन लोगों के अतिरिक्त शेष सभी लोग कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को ही लेकर व्यस्त रहते हैं। इन्द्रियों की सेवा से मन को रोकने के लिये आसन में बैठने की दक्षता प्राप्त करनी होगी। हठयोगी लोग विविध प्रकार के आसनों की सहायता से इन्द्रिय और मन को अपने वश में कर सकते हैं। स्थिर अटल होकर, बहुत देर तक बैठ सकने से मन को किसी एक चिन्तन में, विचार में एकाग्र करने में सुविधा होती है। इसीलिये हिन्दुओं की उपासना का आवश्यक अंग आसन का अभ्यास करना, आसन-सिद्ध करना है।

चंचल मन को नियन्त्रित, स्थिर करने के लिये आसन ही पहला साधन है, जिसका अभ्यास करने पर पहले-पहले थोड़ी असुविधा होती है। आसन में बैठने के बाद विराट आकाश या अनन्त सृष्टि, ब्रह्माण्ड के विषय में जिसकी जितनी धारणा-शक्ति है, जिससे जितना सम्भव है, उतना चिन्तन-विचार करने का प्रयास करने से आसन सहज ही सिद्ध हो जाता है। उससे बाह्य स्पर्श ठण्डी-गर्मी आदि दुखों का प्रतिरोध किया जा सकता है।

तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।।४९ ।।

आसन में सिद्ध हो जाने के बाद श्वास-प्रश्वास की गति को नियन्त्रित, संयमित करने को प्राणायाम कहते हैं।

बाह्याभ्यन्तर स्तम्भवृत्तिर्देश-काल-संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।।५० ।।

क्रिया-भेद से प्रणायाम तीन प्रकार के होते हैं – बाह्यवृत्ति, आभ्यान्तर वृत्ति और स्तम्भवृत्ति। देश-काल और संख्या के द्वारा नियंत्रित एवं दीर्घ और सूक्ष्म रूप से इनके अनेकों भेद होते हैं।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चुतर्थः ।।५१ ।।

चौथे प्रकार के प्राणायाम में बाहरी और भीतरी चिन्तन के द्वारा प्राण-वायु नियन्त्रित होती है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।।५२ ।।

उस प्राणायाम से चित्त का आवरण नष्ट हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः ।।५३ ।।

तब मन में धारणा-शक्ति आती है।

व्याख्या – आसन सिद्ध होकर बैठने के बाद मन को सम्पूर्ण रूप से नियन्त्रित करने का दूसरा उपाय प्राणायाम है। प्राणायाम के विषय में स्वामी विवेकानन्दजी ने 'राजयोग' नामक ग्रन्थ में जो उपदेश दिया है, उसे अच्छी तरह से समझकर अभ्यास करने से निश्चित ही सफलता मिलेगी।

शारीरिक प्राणशक्ति को नियन्त्रित कर लेने पर शरीर और मन की आलस्यता, जड़ता आदि तामसिक गुण, आकांक्षा और स्पृहा के कारण इन्द्रियों की चंचलता आदि राजसिक गुण नियन्त्रित होते हैं। उससे मन और बुद्धि में ज्ञान का विकास होता है तथा ध्यान के सम्बन्ध में सुस्पष्ट धारणा होती है।

❖ (क्रमशः) ❖

अनन्त सुख की प्राप्ति

स्वामी रामकृष्णानन्द

(श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य द्वारा लिखित यह लेख (Self-Knowledge-I) योग के यथार्थ स्वरूप पर सुन्दर प्रकाश डालता है। अद्वैत आश्रम से प्रकाशित Religion and its Practice नामक पुस्तक से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

सामान्यत: हमारी चेतना की तीन अवस्थाएँ होती हैं – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (गहरी निद्रा)। जाग्रत अवस्था में हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से अनन्त देश-काल में विस्तीर्ण वैचित्र्यमय ब्रह्माण्ड की अनुभूति करते हैं। तब हमें धारणा होती है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की तुलना में यह पृथ्वी कितनी तुच्छ है। जब खगोलज्ञ लोग विभिन्न आकाशीय पिण्डों की दूरी, आकार आदि की गणना करने जाते हैं, तो हमें इतनी विशाल लगनेवाली पृथ्वी की वे एक बिन्दु मात्र के रूप में ही कल्पना करते हैं। पृथ्वी को एक बिन्दु मान लेने पर गणना में कोई भी गलती नहीं होती। ऐसी ही गणनाओं के द्वारा लोगों ने अनेक ज्योतिर्मय पिण्डों की दूरी तथा आकार का ठीक-ठीक अनुमान लगाया है। उच्चतर गणित के अनुसार 'शून्य' सबसे छोटा अंक है और उसका मूल्य पूर्णत: 'कुछ नहीं' नहीं होता। तात्पर्य यह कि उससे छोटे अंक की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ऐसा मान लेने पर पृथ्वी को शून्य कहना अयौक्तिक नहीं होगा। क्योंकि 'बड़ा', 'छोटा' आदि सापेक्षिक शब्द हैं। जब हम किसी वस्तु को छोटा कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य होता है कि वह किसी अन्य बृहत्तर वस्तु की तुलना में छोटा है। अत: जब किसी सीमित वस्तु की असीम आकाश से तुलना की जाती है, तो स्वाभाविक रूप से ही आकाश उस सीमित वस्तु की तुलना में अनन्त-गुना बड़ा हो जाता है और वह वस्तु अनन्त का असंख्यवाँ अंश हो जाता है। दूसरे शब्दों में, अनन्त की तुलना में सीमित वस्तु शून्य है। जब अपने असंख्य नदियों तथा पर्वतों, अपने दिगन्तव्यापी समुद्रों, अपने असंख्य प्रकार के वानस्पतिक तथा जैविक प्रजातियों से युक्त यह विशाल पृथ्वी इतनी छोटी प्रतीत होती है, तो (उसकी तुलना में) मेरे जैसा एक प्राणी परम तुच्छ हो जाता है। हमारी जाग्रत अवस्था के बारे में बुद्धि का यही निर्णय है।

परन्तु ऐसा निष्कर्ष हमें प्रिय नहीं लगता। कोई भी व्यक्ति अपने को छोटा या तुच्छ सोचकर सन्तुष्ट नहीं होता। किसी भी व्यक्ति से पूछो कि क्या वह अपनी वर्तमान अवस्था से सन्तुष्ट है। सम्भव है कि वह करोड़पति हो, सम्भव है कि उसके सैकड़ों दास-दासियाँ हों, सम्भव है कि उसकी यश-कीर्ति विश्व भर में फैली हो और सम्भव है कि उसके स्नेहमय माता-पिता, पतिव्रता पत्नी तथा स्वस्थ-सुन्दर-विनम्र-आज्ञाकारी-सुशिक्षित एवं उत्साही बच्चे हों; तथापि ये सारी चीजें अपनी आकांक्षित सारी वस्तुओं की उपलब्धि, क्षणिक-अल्पकालिक सन्तोष ही प्रदान करती हैं; क्योंकि यदि तुम उससे पूछो कि क्या उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो गयी हैं, तो वह तत्काल कहता है कि वह अब भी अनेक वस्तुएँ पाने का इच्छुक है। ऐसे स्वभाववाले मनुष्य के लिये अपने विषय में तुच्छ धारणा से सन्तुष्ट होना असम्भव है। मानव की इच्छाओं तथा कामनाओं का कोई अन्त नहीं। यदि उसे सम्पूर्ण विश्व का स्वामी बना दिया जाय, तो क्या वह सुखी और सन्तुष्ट हो जायेगा? उसके मन में एक-एक करके सारे ग्रह तथा नक्षत्रों पर आक्रमण करने की बात आयेगी। उसके बाद अन्त में जब ऐसा कुछ भी नहीं बचेगा, जिसका वह स्वामी न हो, केवल तभी उसे शान्ति मिलेगी। तात्पर्य यह कि जब वह पूरे ब्रह्माण्ड के साथ, स्वयं अनन्त के साथ एकात्म हो जायेगा, केवल तभी और इसके पूर्व उसकी सन्तुष्टि अपनी चरम सीमा तक नहीं पहुँच सकती।

यद्यपि मनुष्य के स्वरूप का यही छिपा हुआ सत्य है, तथापि सामान्यत: वह सन्तुष्ट दिखायी देता है। ब्रह्माण्ड की बृहत्ता की तुलना में उसकी तुच्छता में ही इसका कारण निहित है। जब तक मनुष्य अपने विषय में एक विशेष लम्बाई-चौड़ाई तथा ऊँचाई वाला और एक नाम तथा रूप से युक्त, जन्म-मृत्यु के चक्रों से होकर गुजरनेवाला तथा अत्यन्त सीमित परिमाण में प्राणिक तथा मानसिक ऊर्जा से युक्त – अर्थात् हर दृष्टि से स्वयं को सीमाबद्ध के रूप में सोचता है, तब तक वह अपने विषय में हीन-धारणा करने को मजबूर है; और इसके फलस्वरूप, यदि वह किसी प्रकार एक साधारण व्यक्ति का जीवन बिता लेता है, तो वह इसी में अपने को भाग्यशाली समझता है। परन्तु जैसा हमने दिखाया कि आन्तरिक व्यक्ति इससे सन्तुष्ट नहीं होता। तो फिर क्यों वह इस शरीर के साथ स्वयं को एकात्म कर लेता है? इसका एक गहनतर कारण है। मनुष्य सुख की आकांक्षा करता है और वह दु:ख तथा सुख के अभाव से घृणा करता है। यदि उसे यह सुख प्राप्त करना है, तो उसे ज्ञानेन्द्रियों की सहायता लेनी पड़ती है। मनमोहक सौन्दर्य, मधुर संगीत, सुखद वायु, स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर पुष्पों की सुगन्ध, अपनी प्रशंसा में कहे गये मधुर शब्द, महिमा-मण्डित करनेवाले कार्य, प्रेमभरी रोमांचकारी वाणी – मन को आनन्दित करनेवाली ये सारी चीजें इन ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आती हैं; और शरीर

इन अंगों का समूह मात्र है; इसीलिये उसका शरीर पर इतना विश्वास तथा प्रेम होता है। जब तक वह इस शरीर को सुख प्राप्त करने का यंत्र समझता है, तब तक उसका इसके प्रति बड़ा गहन लगाव होता है। परन्तु यह केवल एक आंशिक सत्य है, एकांगी दृष्टिकोण है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ न केवल सुख की कारण हैं, अपितु दु:ख की भी कारण हैं। यह जगत् केवल इन्द्रियों को सुन्दर और प्रिय लगनेवाली चीजों से मिलकर नहीं बना है। इसमें सुन्दर की अपेक्षा कुरूप वस्तुओं, मधुर की अपेक्षा कटु शब्दों, सुगन्धित की अपेक्षा दुर्गन्धयुक्त वस्तुओं, स्वादिष्ट की अपेक्षा सड़े-गले तथा कुखाद्य पदार्थों और स्पर्श-सुख के अनुकूल की अपेक्षा प्रतिकूल वस्तुओं का आधिक्य है। अत: इन इन्द्रियों में हमें सुखपूर्ण से कहीं अधिक कष्टपूर्ण अनुभूतियाँ देने की क्षमता विद्यमान है।

केवल इतना ही नहीं। यद्यपि मनुय अपने शरीर की इतनी हिफाजत करता है, इसकी सेवा में इतना समय लगाता है, इसे अपना आत्म-स्वरूप मानता है और चाहता है कि यह चिर काल तक बना रहे, तथापि यह बड़े क्रूर भाव से उससे दूर चला जाता है। इसकी आजीवन सेवा करके उसे इसी सत्य की अनुभूति होती है। जिस शरीर की वह इतनी देखभाल करता है और जिसे वह अपना इतना प्रिय आत्मीय समझता है, वही शरीर उसके लिये क्षण भर के लिये भी नहीं ठहरता, मृत्यु आने पर पीछे मुड़कर देखता तक नहीं! क्या यह कम शोक की बात है?

कुछ पाने के लिये मनुष्य दूसरों की सेवा करता है। जो कुछ उसे सुख देता है, जो कुछ उसे जीवन देता है, उसकी वह सेवा करता है। परन्तु इसकी जगह यदि उससे पीड़ा होती है, तब तो तत्काल उसे उसका त्याग कर देना चाहिये। अपने शरीर की देखभाल करना भी क्या इसी तरह की बात नहीं है? तुम कह सकते हो – "नि:सन्देह इससे पीड़ा होती है, लेकिन यह सुख भी तो देता है।" परन्तु मुझे बताओ कि तुम दुख-मिश्रित सुख चाहते हो या अबाध सुख! इस पर यह तर्क दिया जा सकता है – "ऐसा सुख जिसमें पीड़ा का लेशमात्र भी न हो, इस पृथ्वी पर असम्भव है, अत: पूरी रोटी न मिले तो आधी रोटी ही सही, क्योंकि भूख भी तो मिटानी है। अन्य कोई विकल्प न होने के कारण ही हम ऐसा कहते हैं। यदि कोई अन्य विकल्प उपलब्ध होता, तो हम इसे स्वीकार नहीं करते।"

आओ, हम देखें कि क्या सचमुच ही दूसरा कोई मार्ग नहीं है, क्योंकि यदि हो तो विवेकवान व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह प्रयासपूर्वक उसे अपनाने का प्रयास करे। कितने परिश्रम के उपरान्त मनुष्य इतने सारे कष्टों के साथ मिश्रित थोड़ा-सा सुख पाने में सफल होता है! तो फिर क्या हम आशा कर सकते हैं कि बिना परिश्रम किये ही अनन्त सुख की प्राप्ति हो जायेगी? निश्चय ही इसे पाने के लिये व्यक्ति को कठोर परिश्रम करना होगा।

आओ, अब हम देखें कि ऐसे सुख की सम्भावना कहाँ विद्यमान है। शरीर में तो यह निश्चित रूप से नहीं है। शरीर के माध्यम से प्राप्त सारे सुखों का प्रारम्भ तथा अन्त दु:ख में ही होता है। सुख तथा दु:ख – गाड़ी के चक्कों के समान एक-के-पीछे-एक घूमते रहते हैं –

चक्रवत् परिवर्तन्ते दु:खानि च सुखानि च।

वह (सुख) न तो शरीर में है और न ही बाह्य जगत् में, क्योंकि वहाँ प्राप्त सुख को भी शरीर के माध्यम से ही आना होगा। अत: अब आत्मा का प्रश्न उठता है; परन्तु क्या शरीर से पृथक् किसी आत्मा का अस्तित्व है? इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि हमारी जाग्रत अवस्था में दृश्यमान इस क्षणभंगुर जगत् में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो परिवर्तनशील न हो। इसमें वस्तुओं का स्थायित्व असम्भव है। विश्व किसी भी स्थान पर स्थिर नहीं है। गर्मी से वस्तुओं का फैलना और सर्दी से सिकुड़ना – यह एक सार्वभौमिक नियम है। फिर गर्मी का परिमाण भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। अत: इस जगत् में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो लगातार क्षणों के अन्तराल में भी समान बनी रह सके। वस्तुत: वस्तुओं में होनेवाला यह सतत परिवर्तन ही हमें काल या समय का बोध कराता है। जहाँ पर कोई परिवर्तन नहीं है, जहाँ सम-भाव बना रहता है, वहाँ समय के भूत-वर्तमान तथा भविष्य – समय के इन विभागों की कोई धारणा नहीं हो सकती, क्योंकि परिवर्तन का बोध हुए बिना भूत तथा भविष्य काल की धारणा भला कैसे सम्भव है? अत: परिवर्तन ही काल है।

कोई कह सकता है कि आकाश अपरिवर्तनशील है। जैसे एक स्थायी मंच के ऊपर नाटक का मंचन होता है और दृश्यों के परिवर्तन के बीच भी मंच स्थिर बना रहता है, वैसे ही आकाश को आधार बनाकर काल की क्रीड़ा चलती रहती है – इस एक अन्त, अपरिवर्तनशील आकाश की शून्यता के मंच पर चिर काल से इस ब्रह्माण्ड रूपी अद्भुत नाटक का मंचन जारी है। परन्तु मैं पूछता हूँ कि आकाश क्या है? जहाँ भी लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई है, वहीं आकाश की धारणा बन जाती है; परन्तु जहाँ इनमें से कोई भी नहीं है, वहाँ भला आकाश कैसे हो सकता है? अत: आकाश आदि-अन्तहीन एक अनन्त शून्यता है और जिसमें लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई है। परन्तु ये तीनों माप हैं और माप कभी अप्रमेय नहीं हो सकता। अत: लम्बाई आदि की धारणा के साथ अनन्त की धारणा का समायोजन नहीं किया जा सकता। इन तीनों का आदि तथा अन्त है, अर्थात् ये सीमित वस्तुओं के माप हैं। अत: लम्बाई आदि से रहित आकाश की धारणा यदि

असम्भव हो और यदि ये लम्बाई आदि हमेशा के लिये सीमित हों, तो हमें यह समझना होगा कि वस्तुओं के अस्तित्व के माध्यम से ही आकाश के अस्तित्व की धारणा कर पाना सम्भव है। पहले कहा जा चुका है कि सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि जिस वस्तु का अस्तित्व सतत परिवर्तनशील वस्तुओं पर निर्भर करता हो, वह स्वयं भी परिवर्तनशील होगी। अत: आकाश भी परिवर्तनशील है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बाह्य जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसमें प्रतिक्षण परिवर्तन न हो रहा हो।

'आकाश' के परिवर्तनशील स्वभाव के पक्ष में एक अन्य प्रमाण भी दिया जा सकता है। जब हममें 'मैं'-'तुम'-'यह'-'वह' का बोध नहीं रहता, तब आकाश की धारणा करना असम्भव है। जब द्वैत का बोध नहीं रहता, जब सभी द्वैत के ऊपर केवल एक-अखण्ड-सर्वव्यापी तत्त्व का ही अस्तित्व रह जाता है, तब काल-आकाश तथा कारण – सबका लोप हो जाता है। अत: आकाश की अनुभूति को सम्भव बनाने के लिये दो चीजों की आवश्यकता होती है। 'यह' तथा 'वह' विशेषणों द्वारा इंगित दो चीजें ही हमारी आकाश-विषयक धारणा के मूल में हैं, अत: यह स्वीकार करना पड़ता है कि वस्तुओं का अस्तित्व या नास्तित्व (शून्यता) आकाश के अस्तित्व या नास्तित्व पर निर्भर करता है। वस्तुओं में परिवर्तन के कारण आकाश में भी परिवर्तन होता रहता है।

एक बात और। परिवर्तनशील वस्तुएँ स्वाधीन नहीं होतीं – वे सर्वदा एक-दूसरे पर निर्भरशील दिखायी देती हैं। वे उन वस्तुओं पर निर्भर करती हैं, जो उनमें परिवर्तन लाती हैं। इससे इसका उल्टा और यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो वस्तु स्वाधीन है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आ सकता; वह अपरिवर्तनशील तथा शाश्वत है। और इस जगत् में हमें कोई भी ऐसी स्वाधीन वस्तु नहीं मिलती, जो चिर काल तक सम बनी रहे।

आइये अब हम देखें कि क्या हमारे इस शरीर में पंच-तत्त्वों से बनी कोई ऐसी स्थायी वस्तु प्राप्त हो सकती है! यदि यह शरीर ही 'मैं' होता, तो मेरे जन्म तथा मृत्यु होते और इस कारण 'मैं' परिवर्तनशील होता। 'मैं शरीर हूँ' – हमारी इस धारणा के साथ-ही-साथ एक अन्य धारणा भी हमारे स्वभाव में सुदृढ़ रूप से अंकित है; और वह हमारी उस पूर्व-धारणा पर शंका उत्पन्न करती है। 'मेरे हाथ', 'मेरे पाँव', 'मेरा शरीर' आदि धारणाएँ भी मेरे लिये अत्यन्त स्वाभाविक हैं। परन्तु जो कुछ 'मेरा' है, वह भला 'मैं' कैसे हो सकता है? फिर केवल कुछ वर्षों के लिये ही हमारा इस शरीर के साथ सम्पर्क होता है। यदि मैं मन होता, तो भी यह स्पष्ट है कि मैं निरन्तर परिवर्तनशील हूँ। फिर 'मेरा मन' – यह भाव मुझे मन से अलग भी करता है। यद्यपि अपने स्वरूप के एक अंश के प्रभाव से मुझे अपने शरीर तथा मन के साथ तादात्म्य का बोध होता है, तथापि दूसरे अंश के प्रभाव से मैं उनसे पृथक् भी हो जाता हूँ। यदि मैं सचमुच ही यह शरीर तथा मन होता, तो उनसे पार्थक्य का बोध करना मेरे लिये कभी सम्भव नहीं हो पाता। जैसे चीनी या नमक अपनी मधुरता तथा खारेपन का स्वभाव त्याग नहीं सकते, वैसे ही यदि मैं और मेरा शरीर एक रहे होते, तो मेरे लिये अपना 'देहात्म-भाव' त्याग पाना असम्भव हो जाता, क्योंकि मेरे लिये अपनी 'अहंता' (मैं-पना) को त्याग पाना असम्भव है। परन्तु चूँकि मैं सहज भाव से अपने शरीर तथा मन से अपनी पृथक् सत्ता के रूप में कल्पना कर पाता हूँ, अत: मैं इन दोनों से ही कोई अलग तत्त्व हूँ। इसके अतिरिक्त शरीर तथा मन के स्वभाव के साथ 'मैं' के स्वभाव की तुलना करने पर हमें ज्ञात होता है कि शैशव, बचपन, यौवन आदि में शरीर तथा मन तो बदल गये हैं, परन्तु एक ही 'मैं' – बचपन, कैशोर्य तथा यौवन से गुजरते हुए अब आयु की वर्तमान अवस्था में आ पहुँचा है – शरीर तथा मन बदल गये हैं, परन्तु 'मैं' सदा-सर्वदा से एक समान अपरिवर्तनशील बना हुआ है। 'मुझ' में कोई परिवर्तन नहीं होता। सभी अवस्थाओं में समान बना रहनेवाला 'मैं' वही एक हूँ। यहाँ तक कि स्वप्न में भी मैं शरीर तथा मन का वही द्रष्टा मात्र हूँ। पूछा जा सकता है – "गहन निद्रा में तो तुम अवश्य ही अपनी 'अहंता' खो बैठते हो, उस समय तुम्हारा अस्तित्व कहाँ चला जाता है?" परन्तु यह सत्य नहीं है। यदि गहन स्वप्नरहित निद्रा के समय 'मैं' का नाश हो जाता, तो फिर वह दुबारा जाग नहीं पाता, क्योंकि कोई भी नष्ट हुई वस्तु पुन: अस्तित्व में नहीं आ सकती। युक्ति दी जा सकती है कि गहन निद्रा के बाद एक नये 'मैं' का सृजन होता है। यदि ऐसा होता तो वर्तमान 'मैं' पिछले 'मैं' से असम्बद्ध होने के कारण, पिछले 'मैं' के कार्यों से पूर्णत: असम्बद्ध रहता। परन्तु वास्तविकता इसके ठीक उलटी है। सोकर उठने के बाद व्यक्ति अपने जीवन के प्रारम्भ से किये गये समस्त कार्यों को अपने द्वारा ही किया हुआ स्वीकार करता है। इससे पता चलता है कि गहन निद्रा के बाद किसी नवीन 'मैं' का सृजन नहीं होता और इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस निद्रा के दौरान भी 'मैं' का अस्तित्व था।

इसका एक प्रमाण यह भी है कि जागने के बाद याद रहता है कि मैं सोया था। पहले की अनुभूति ही स्मृति छोड़ जाती है, जो कुछ देखा या सुना नहीं गया है, वह कभी स्मृति में नहीं आ सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चूँकि निद्रा के समय मुझे चेतना थी कि मैं निद्रित हूँ, अत: बाद में जागने पर मुझे उसकी स्मृति रहती है। क्योंकि पहले

की वास्तविक अनुभूति की दुबारा मानसिक अनुभूति को ही स्मृति कहते हैं। तो फिर, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वप्न तथा जाग्रत अवस्थाओं के समान ही गहन निद्रा के समय भी शुद्ध चेतना के रूप में 'मैं' का अस्तित्व रहता है। मैं एक शाश्वत – निरन्तर परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड के बीच एकमात्र चिर-स्थिर सत्ता और चेतना की तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा हूँ। मेरा स्वरूप ऐसा है, जिसमें कोई परिवर्तन या रूपान्तरण नहीं किया जा सकता। अत: मैं परिवर्तनशील वस्तुओं के समान दूसरों पर निर्भर नहीं हूँ – मैं स्वाधीन हूँ। स्वाधीन होने के कारण मैं अनन्त हूँ, मैं मरने का बिल्कुल भी इच्छुक नहीं हूँ, इसलिये यदि कोई भी मेरे ऊपर नहीं है, यदि मैं हर प्रकार से अपनी इच्छानुसार चलने के लिये स्वाधीन हूँ, तो मैं मृत्यु के दोष को अपने पास नहीं फटकने दूँगा। अस्तित्व के नाश को मृत्यु कहते हैं। अत: यदि मैं मृत्यु का स्वामी हूँ, तो मेरा नाश भला कैसे सम्भव है? शरीर धारण करने के पूर्व मेरा अस्तित्व था और इसे त्यागने के बाद भी मेरा अस्तित्व बना रहेगा। मैं अनन्त और सर्वव्यापी हूँ, क्योंकि समस्त परिवर्तनशील वस्तुएँ किसी स्थायी अपरिवर्तनशील आधार पर ही वैसा करती हैं। मेरे अतिरिक्त बाकी सब कुछ परिवर्तित तथा रूपान्तरित होता रहता है। अत: सम्पूर्ण परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड, मुझ एकमात्र अपरिवर्तनशील तत्त्व पर आरोपित है। मैं सर्वव्यापी – सबमें ओतप्रोत हूँ।

मेरी अमरता का एक अन्य प्रमाण है – "वह कौन है, जो अपने ही अस्तित्व पर शंका करता है? यदि तुम्हारे मन में इस विषय में कोई शंका हो, तो शंका करनेवाले ही तुम हो।" अत: स्वयं के अस्तित्व के विषय में कोई भी शंका नहीं होनी चाहिये। हर व्यक्ति एक सकारात्मक तत्त्व है। अस्तित्व का कभी लोप या कभी नाश नहीं हो सकता। इस कारण मैं अमर हूँ, सर्वव्यापी हूँ और इस कारण सर्वज्ञ हूँ; और मुक्त होने के कारण परम आनन्द-स्वरूप हूँ।

परन्तु इस 'मैं' को फीते से नहीं मापा जा सकता। इस सच्चे 'मैं' और नाम-रूप-धारी 'मैं' के बीच जमीन-आसमान का भेद है। एक 'मैं' तो जन्म, मृत्यु, रोग, पागलपन, शोक तथा दोषों का भोक्ता है और दूसरा 'मैं' सर्वदा एकरस, सर्वव्यापी, अचल, अपरिवर्तनशील तथा अमर है। एक 'मैं' स्वयं को मनुष्य या देवता, ब्राह्मण या अब्राह्मण, संन्यासी या गृहस्थ समझता है और दूसरा 'मैं' इन सभी सीमाबद्ध करनेवाली उपाधियों के परे, स्वयं में सन्तुष्ट और चिर काल से शुद्ध चेतना में स्थित है। एक 'मैं' सर्वदा स्वयं को आतंकित महसूस करता है तथा सर्वदा विपत्तियों से भयभीत रहता है; और दूसरा 'मैं' अपने पूर्ण स्वरूप के विषय में पूर्णत: सचेत है तथा कभी किसी का भय नहीं मानता और सर्वाधिक बृहत् होने के कारण ब्रह्म कहलाता है। एक 'मैं' अपने कन्धों पर कर्म का गुरुभार लिये द्वार-द्वार भटक रहा है (बारम्बार जन्म लेता है); और दूसरा 'मैं' सारे गुणों-अवगुणों से अति परे अपने पूर्ण आनन्दमय स्वरूप में स्थित रहता है। एक 'मैं' चिर-परिवर्तनशील, अनिर्वचनीय माया रूप प्रकृति की दासता में दुखमय जीवन बिता रहा है; और दूसरा 'मैं' प्रकृति के स्वामी के रूप में, ब्रह्म की सृष्टि-स्थिति-प्रलय रूपी लीला के द्वारा स्वयं से अभिन्न आनन्द का उपभोग कर रहा है। एक 'मैं' – सत्त्व, रजस् तथा तमस् – प्रकृति के इन तीनों गुणों में आबद्ध है; और दूसरा 'मैं' इनसे अत्यन्त परे और चिरमुक्त है। एक 'मैं' बारम्बार जन्म लेने को बाध्य होकर अवर्णनीय कष्ट उठा रहा है; और दूसरा 'मैं' इन जन्मों की लीलामय सृष्टि के द्वारा अपने पूर्ण स्वरूप में आनन्द ले रहा है। (प्रतीयमान विभिन्नता, वास्तविक 'मैं' की सच्ची एकता को सौन्दर्य प्रदान कर रहा है)। एक 'मैं' मिथ्या है तथा कष्टों से परिपूर्ण है; और दूसरा 'मैं' सत्य तथा आनन्द से परिपूर्ण है।

शरीर से अभिन्नता का बोध करनेवाले व्यक्ति का 'मैं' – मिथ्या 'मैं' है। गुरु की भक्तिपूर्ण सेवा करने से इस मिथ्या धारणा से मुक्ति पायी जा सकती है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६/२३)

– "जिसकी परमात्मा में सुदृढ़ भक्ति हो और भगवद्-भक्ति के समान ही सद्गुरु के प्रति श्रद्धा भी हो; ऐसे व्यक्ति में महान् ऋषियों द्वारा कहे गये शब्दों के अर्थ प्रकट होते हैं।"

ऐसे व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी इस अनिर्वचनीय आनन्द का उपभोग नहीं कर सकता। अत: गुरुभक्ति के सिवा इस भ्रम से छुटकारा पाने का कोई अन्य मार्ग नहीं है। यदि तुम शरीर तथा मन के परे जाना चाहते हो और ब्रह्मज्ञान से अनुभूत होनेवाले पूर्ण आनन्द का उपभोग करना चाहते हो, तो अपने हृदय की पूर्ण भक्ति के साथ अपने गुरु की सेवा में लग जाओ। इसे छोड़ दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है।

बढ़ना है, तो चलना होगा

डॉ. कन्हैयालाल नन्दन

पता नहीं चरैवेति का पहला भाष्य कहाँ पढ़ा था, लेकिन इतना पता है कि चलना ही जीवन है – इसे कदम-कदम पर अनुभव किया। जब तक जीवन में रवानी है, गति है, तभी तक जीवन है। ठहरना ही मौत है।

हमने जब पढ़ा था – 'सं गच्छध्वम्' तो चेतना में यह विचार पैठा कि सबको मिलकर चलना ही श्रेयस्कर है, पर जब गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बताया कि यदि समवेत संचरण सम्भव न हो, तो 'एकला चलो रे', तो लगा कि सामूहिक रूप से चलने से भी ज्यादा जरूरी है चलना, भले ही वह अकेले हो। यह गति का अभिनन्दन है, उसका उत्सव है।

हमारे आगे अनेकों कवियों और शायरों ने गति के अभिनन्दन में अपनी कलम चलायी और कहा है कि चलने में ही सार्थकता है, गन्तव्य पा जाने में नहीं, जब बच्चन जी ने 'मधुशाला' में लिखा था – **अलग-अलग पथ बतलाते सब / लेकिन मैं बतलाता हूँ / राह पकड़ तू एक चला चल / पा जायेगा मधुशाला** – तो उन्होंने ऐसे लोगों को सम्बोधित किया था, जो गन्तव्य तक पहुँचना ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं, लेकिन उन्हें उस गन्तव्य तक पहुँचने में पथ का वैविध्य भटकाता है। मेरे जैसे सोच वाले लोगों के लिय सार्थकता इसमें है कि 'राह पकड़ तू एक चला चल'। यदि आप चल रहे हैं और चलते रहने का ही संकल्प लिये हैं, तो आप पायेंगे कि एक गन्तव्य के बाद दूसरा गन्तव्य सामने आता जायेगा। गन्तव्य पर पहुँचकर गति को विराम देना अनुभवों की अनवरत सम्पदा से होनेवाले साक्षात्कार पर विराम लगाना है।

अभी मैंने एक गजल लिखी, जिसका एक शेर है –

जो किस्मत में चलना लिखा है तो चल,
ये मत देख, चलकर कहाँ जायेगा ।।

यह निरर्थक चलते चले जाने का मशवरा नहीं है, इसके साथ एक सघन विश्वास अन्तर्प्रवाहित है कि चलेगा तो कहीं-न-कहीं तो पहुँचेगा! आपने क्रिया की, तो उसका प्रतिफल आपको मिले बिना नहीं रहेगा। 'गीता' में इस चलने को अर्थवत्ता देते हुये कहा गया है – **कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन** – तुम्हारा काम है कर्म करो, फल की चिन्ता मत करो, चलते चले जाओ।

मैं एक बार इसी बात पर स्वामी आत्मानन्दजी (अब ब्रह्मलीन) से बहस कर बैठा। स्वामीजी की ध्वनियाँ अब भी कानों में गूंज रही हैं। मैंने अपने सिद्धान्त का दामन थामकर यह सिद्ध करना चाहा कि मैं ऐसे निरर्थक काम करने, बिना किसी गन्तव्य को जेहन में रखे चलते जाने को – शक्ति का अपव्यय मानता हूँ, इसलिये मेरे लिये जरूरी है कि मैं जान लूँ कि मैं जो कर्म करने जा रहा हूँ, उसका फल क्या होगा, जबकि 'गीता' कहती है कि फल की चिन्ता किये बिना तू कर्म कर; गन्तव्य को भूल, सिर्फ चलना ही तेरा गन्तव्य होना चाहिये।

स्वामी आत्मानन्द की पुस्तक 'गीता-तत्त्व-चिन्तन' के लोकार्पण के अवसर पर उन्हें सुनने के लिये लोग बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हुये थे, मैंने भी कोई कसर न छोड़ी और अपने तर्क के साथ स्वामीजी के भक्तों की भीड़ को ले उड़ा। मैंने '**योगक्षेमं वहाम्यहम्**' के परलोक-कल्याण की धज्जियाँ उड़ाने की कोशिश की और कृष्ण का आवाहन किया कि "मुझे योग और क्षम के ये पारलौकिक कवच मत पहनाओ। अगर हिम्मत है तो खुलकर सामने आओ और जैसे मेरी जिन्दगी यहाँ दाँव पर लगी है, वैसे ही तुम भी लगाओ।"

भक्तगण परम प्रसन्न थे कि एक युवा रचनाकार (तब मेरी आयु चालीस से भी कम थी) गीता के बहुश्रुत '**मा फलेषु कदाचन**' का नया भाष्य कर रहा है।

स्वामीजी मुस्कुराये और फिर जो बोले, तो मेरा ज्ञान खोलते चले गये, उन्होंने कहा – 'गीता' जब यह कहती है – 'कर्म करो फल की चिन्ता छोड़ दो' – तो इसका यह अर्थ नहीं और न 'गीता' में कहीं कहा गया है कि कर्म करोगे तो फल मिलेगा ही नहीं, 'गीता' का अर्थ कहता है कि कर्म करोगे तो भला-बुरा फल तो मिलेगा ही। चलना शुरू करोगे, तो किसी-न-किसी गन्तव्य तक पहुँचोगे ही। गीता का कहना है कि जब कर्म करना शुरू करो तो फल की चिन्ता छोड़ दो और अपनी पूरी शक्ति पूरी क्षमता के साथ कर्म को अंजाम दो, अगर शर-संधान करना है, तो अपने निशाने पर ध्यान लगाओ, उस समय अगर आपके मन में द्विधा पैदा हो गयी कि शर-सन्धान तो कर रहा हूँ, कहीं यह विफल तो नहीं हो जायेगा, यह द्विधा आपके एकाग्र चित्त को स्खलित कर सकती है।

जीवन को गति का पर्याय बताकर चलते रहने का ही लक्ष्य सिद्ध करना हमारे वाङ्मय का हिस्सा है, चलने की महत्ता को रेखांकित करनेवाला एक संस्कृत सुभाषित है –

गच्छन् पिपीलिका याति योजनानि शतानि च ।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ।।

चलती रहनेवाली चींटी सौ योजन पार कर सकी है, पर न चलनेवाला गरुड़ एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। आगे बढ़ना है तो कदम उठाना पड़ेगा, इस चलने में आपका पथ कल्याणमय हो, यह शुभाशंसा कालिदास ने भी दी ह। चलनेवालों के लिये उनकी वह मंगल-कामना इस तरह है –

रम्यान्तरः कमलिनी-हरितैः सरोभि-

श्छाया-द्रुमैर्नियमितार्क-मयूख-तापः ।
भूयात् कुशेसय-रजो-मृदु-रेणुरस्याः
शान्तानुकूल-पवनश्च शिवश्च पन्थाः ।।
(अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, ४/१०)

"चलो, लेकिन कल्याणमय मार्ग पर चलो, जिसमें बीच-बीच में कमलिनियों से भरे तालाब मिलते हों, जिसमें छायादार वृक्षों के कारण धूप की गर्मी का कष्ट न होता हो, जिसकी धूलि कमल के परागों की भाँति कोमल व सुरभित हो तथा जिसमें अनुकूल पवन बहता रहे।"

चलने में मंगल-कामना जुड़ जाय, पथ कल्याणमय हो जाय, तो क्या कहने ! मगर पथ के कल्याणमय होने में बड़ी बाधायें हैं। आजकल के, मेरे प्रिय और युवतर कवि श्री यश मालवीय का एक दोहा है –

अंकगणित सी जिन्दगी, पढ़े पहाड़ा रोज ।
अपने ही धड़ पर लगे, अपना यह सिर बोझ ।।

फिर भी जिन्दगी है, तो चलना है, चलना ही है कमाल की शै है जिन्दगी। फिराक गोरखपुरी ने कहा था –

मौत का भी इलाज हो शायद,
जिन्दगी का कोई इलाज नहीं ।।

इस लाइलाज शै को आप एक मुसाफिर की तरह झेलिये और फिर देखिये कि जो मजा चलने में है, वह मंजिल पर पहुँचकर ठहरने में नहीं है।

इसलिये – चलो और वसीम बरेलवी को याद करो –

सोचने से कोई राह मिलती नहीं,
चल दिये हैं, तो रस्ते निकलने लगे ।

अत: 'शुभास्ते पन्थान: सन्तु !' – ऋषियों और गुरुजनों ने पथ के शुरू होने की कामना की है, गन्तव्य का नाम नहीं लिया। धारणा यह है कि अगर रास्ता सही और शुभ है, तो मंजिल का शुभ होना तयशुदा बात है।

यात्रा की निरन्तरता बनाये रखना ही हमारा धर्म है, मंजिलों का पता तो रास्ता ही दे देगा। तुम्हारा काम है चलना, सो चलते रहो। कैसे चल रहे हो यह गौण है, मेरे एक प्रिय जापानी कवि हैं शिनोहारा हिरोशी, उन्होंने लिखा है – "एक कोरा कागज मेरे दिमाग में एक रेगिस्तान भर देता है; और मैं हाँफ-हाँफ कर उसे पार करने की कोशिश कर रहा हूँ। बालू में चल सकने वाली कोई भी सवारी मेरे पास न होने के कारण मैं पैदल ही चल रहा हूँ।"

चलना अगर बाकी रहेगा, तो आगे बढ़ना भी बाकी रहेगा। आगे बढ़ना जारी रहेगा, तो अतीत पीछे छूटता जायेगा। अतीत को बहुत ज्यादा लादकर चलने में कठिनाई होती है। अतीत से सबक लो और आगे बढ़ जाओ। इसे अपना जीवन-क्रम बनाओ, आदत का हिस्सा बनाओ, मैं फिर अपने प्रिय शायर वसीम बरेलवी के हवाले से कहना चाहूँगा –

मैं चल रहा हूँ कि चलना भी एक आदत है,
ये भूलकर कि रास्ता किधर जायेगा ।।

यह सन्देश जापान का भी है, हिन्दुस्तान का भी है और रॉबर्ट फ्रॉस्ट का कहा याद करें, तो यह सन्देश इंग्लिस्तान का भी है। फ्रॉस्ट ने लिखा था – एंड माइल्स टु गो बिफोर आइ स्लीप – अरे, अभी तो मीलों मुझको चलना है। अगर जवाहरलाल नेहरू ने अपनी मेज पर रॉबर्ट फ्रॉस्ट की यह पंक्ति लगा रखी थी, तो सिर्फ इसलिये कि चलने में ही हमारी गति है, प्रगति है और गति ही जीवन है, इसलिये चलो और चलते रहो। शुभास्ते पंथान: सन्तु !

अभी कहाँ आराम बदा है,
मौन निमंत्रण छलना है;
अरे, अभी तो मीलों मुझको,
मीलों मुझको चलना है ।। (रॉबर्ट फ्रॉस्ट)

साहस में नया सृजन, आशा में आकर्षण;
दुनिया सुख-दुख का मेला है,
तुम चले चलो पन्थी ।। (वीरेन्द्र मिश्र)

मैं तो कर रहा हूँ तैयार स्वयं को, उस लड़ाई के लिये, जो रास्तों के उस छोर तक ले जाती है, जहाँ सूरज का घर है। चल रहा हूँ इसीलिये मैं ...... ❑ **(नवनीत से साभार)**

पुरखों की थाती

पठतो नास्ति मूर्खत्वं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनिनः कलहो नास्ति, न भयं चास्ति जाग्रतः ।।

– निरन्तर पढ़ते रहनेवाले में अज्ञान नहीं रह जाता, निरन्तर जप करते रहनेवाले में पाप नहीं रह जाता, सर्वदा मौन धारण किये रहनेवाले का किसी के साथ झगड़ा नहीं होता और सर्वदा जाग्रत रहनेवाले को कोई भय नहीं होता।

परोपकारः सच्चर्या ज्ञानं यत्र न भास्वरम् ।
वृथा वहति तज्जीवः शरीरं व्याधि-मन्दिरम् ।।

– जिस व्यक्ति के जीवन में परोपकार, सदाचार अथवा तेजोमय ज्ञान नहीं है, वह व्याधि रूपी इस शरीर को वृथा ही ढो रहा है।

पिपीलिकार्जितं धान्यं मक्षिका-संचितं मधु ।
लुब्धेन संचितं द्रव्यं, समूलं च विनश्यति ।।

– चींटी द्वारा एकत्रित अन्न, मधुमक्खी द्वारा संचित मधु और लोभी व्यक्ति द्वारा एकत्रित धन – ये तीनों ही समूल नष्ट हो जाते हैं। ❑❑❑
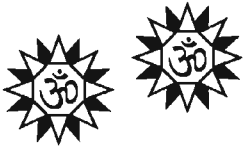
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
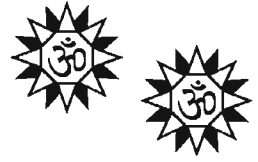
प्राध्यापक जी. एस. भाटे

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१८९२ ई. में बेलगाम में अपने अतिथि के रूप में स्वामी विवेकानन्द को पाने का हमें दुर्लभ सौभाग्य मिला था। दिनांक मुझे स्पष्ट याद नहीं है, परन्तु यह उनके चेन्नै पहुँचकर वहाँ लोकप्रिय हो जाने के करीब छह महीने पूर्व की बात है। यदि मेरी याददाश्त सही है, तो उनके पहली बार चेन्नै पहुँचने के बाद ही वहाँ के लोगों ने उन्हें शिकागो में आयोजित होनेवाली धर्म-महासभा में भेजने हेतु भारत के प्रतिनिधि के रूप में चुन लिया था। चूँकि उनके सुविख्यात होने के पूर्व बहुत कम लोगों को उन्हें जानने का सुयोग मिला था, अत: मुझे उचित ही प्रतीत होता है कि उनके बेलगाम आगमन तथा निवास की कुछ स्मृतियों को, चाहे वे जितनी भी धुँधली हो गयी हो, लिपिबद्ध करना रोचक ही होगा।

स्वामीजी कोल्हापुर से महाराजा के निजी सचिव श्री गोलवलकर का एक पत्र लेकर बेलगाम आये। कोल्हापुर दरबार के नाम भावनगर दरबार का एक पत्र लेकर वे कोल्हापुर गये थे। मुझे याद है कि एक दिन सुबह लगभग छह बजे मेरे पिता के अन्तरंग मित्र श्री गोलवलकर का पत्र लिये हुए वे हमारे घर आये। स्वामीजी देखने में विलक्षण थे और पहली दृष्टि में ही अन्य लोगों से कुछ अलग प्रतीत होते थे। परन्तु न तो मेरे पिता और न ही मेरे परिवार अथवा हमारे छोटे से नगर का कोई अन्य व्यक्ति ही, हमारे अतिथि के भीतर से बाद में प्रगट होनेवाली उस महानता को देख सका था।

स्वामीजी के निवास के पहले दिन से ही ऐसी कुछ छोटी -मोटी घटनाएँ हुईं, जिनके कारण हमें उनके बारे में अपनी धारणाएँ बदलनी पड़ीं। प्रथमत: तो यद्यपि वे संन्यासियों में प्रचलित रंग के ही वस्त्र पहने हुए थे, तथापि उनके वस्त्र संन्यासी-समाज से कुछ अलग ढंग के थे। वे एक बनियान पहनते थे। दण्ड के स्थान पर उनके पास घूमने के समय उपयोग में लाई जानेवाली एक लम्बी छड़ी थी। सामान के नाम पर उनके पास एक साधारण कमण्डलु, गीता का एक जेबी संस्करण तथा एक-दो अन्य पुस्तकें थीं, (जिनके नाम मुझे भूल गये हैं, सम्भवत: वे कुछ उपनिषदें थीं)। हम लोग ऐसे संन्यासी देखने के अभ्यस्त न थे, जो बातचीत के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करता हो, नंगे बदन रहने की जगह पर बनियान पहनता हो और जो बुद्धि की ऐसी व्यापकता तथा जानकारी की इतनी विविधता प्रकट करता हो, जो एक सांसारिक व्यक्ति के लिए भी एक बड़े गर्व की बात होती। वे हिन्दी में भी धारा-प्रवाह बोलते थे, पर हमारी मातृभाषा मराठी होने के कारण हमारे साथ हिन्दी की अपेक्षा प्राय: अंग्रेजी में वार्तालाप करना उन्हें कहीं अधिक सुविधाजनक लगता था।
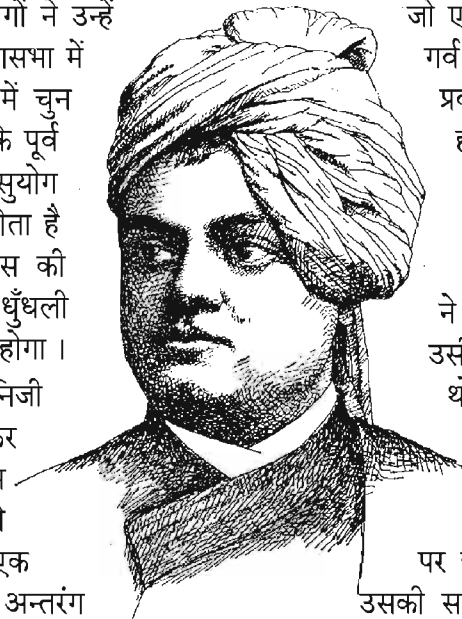
पहले ही दिन भोजन के बाद स्वामीजी ने पान-सुपारी के लिए अनुरोध किया। फिर उसी या अगले दिनों उन्होंने चबाने के लिये थोड़ी-सी तम्बाकू माँगी। सामान्यत: संन्यासी को ऐसी छोटी-मोटी सुविधाओं के परे गया हुआ माना जाता है, अत: उनके द्वारा ऐसी चीजों के लिए इच्छा व्यक्त करने पर हमारे मन में जिस आतंक की सृष्टि हुई, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। हमें उनकी अपनी स्वीकारोक्ति से ही ज्ञात हो चुका था कि अब्राह्मण होकर भी उन्होंने संन्यास ग्रहण किया है और संन्यासी होकर भी उन्होंने ऐसी चीजों के लिए इच्छा व्यक्त की थी, जो केवल गृहस्थ लोगों की ही आवश्यकता मानी जाती हैं। यह तो सचमुच ही उल्टी-पुल्टी बात थी, तथापि वे हमारे विचारों को पलटने में सफल हुए। वैसे एक संन्यासी द्वारा पान-सुपारी या चबाने के तम्बाकू माँगने में कुछ भी गलत न था, परन्तु अपनी इच्छा की जो व्याख्या उन्होंने दी, उसने हमें पूरी तौर से हथियार डालने को बाध्य कर दिया। उन्होंने बताया कि वे एक आनन्दप्रिय युवक तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के एक प्रतिष्ठित ग्रेजुएट हैं और श्रीरामकृष्ण परमहंस से मिलने के पूर्व का उनका जीवन उनके परवर्ती जीवन से बिल्कुल भिन्न था। श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेशों के परिणामस्वरूप उन्होंने अपना जीवन तथा दृष्टिकोण बदल डाला है, परन्तु कुछ चीजों से छुटकारा पाना उन्हें असम्भव लगा, अत: उन्हें ज्यादा महत्व

का न समझकर उन्होंने रहने दिया था। भोजन के विषय में जब उनसे पूछा गया कि वे शाकाहारी हैं या मांसाहारी, तो उन्होंने कहा कि साधारण संन्यासी परम्परा के स्थान पर परमहंस परम्परा के होने के कारण इस विषय में उनकी अपनी कोई पसन्द नहीं है। परम्परागत नियमों के अनुसार परमहंस को जो भी दिया जाय, वह उसे खाने को बाध्य है और जब उसे कुछ भी न दिया जाय, तो उसे निराहार रहना पड़ता है। एक परमहंस द्वारा, धार्मिक विश्वासों से निरपेक्ष, किसी भी व्यक्ति से भोजन ग्रहण करने का निषेध नहीं किया गया है। पूछा गया कि क्या वे अहिन्दुओं द्वारा बनाया हुआ भोजन भी स्वीकार करेंगे, तब उन्होंने हमें बताया कि जरूरत पड़ने पर उन्हें कई बार मुसलमानों द्वारा दिया हुआ भोजन भी स्वीकार करना पड़ा।

संस्कृत अध्ययन के प्राचीन पण्डिताऊ शैली में स्वामीजी काफी पारंगत लगे। उनके आगमन के दिनों में मैं अष्टाध्यायी रट रहा था और एक बालक के रूप में मैं यह देखकर बड़ा विस्मित हुआ कि जिस अष्टाध्यायी को मैं बड़े कष्टपूर्वक कण्ठस्थ कर रहा था, उसके अंश उद्धृत करने में भी उनकी स्मरण-शक्ति मुझसे काफी उत्कृष्ट थी। जहाँ तक मुझे याद है, एक बार जब मेरे पिताजी ने मुझसे वे अंश सुनाने को कहा, जिन्हें कि मैं तैयार कर रहा था, तो मुझसे कुछ भूलें हुईं और स्वामीजी को मुस्कुराते हुए उन्हें सुधारते देखकर मैं चकरा गया। जहाँ तक उनके प्रति मेरी भावनाओं का सवाल है, इस घटना के फलस्वरूप मैं अभिभूत हो उठा। इसके बाद जब पुन: अमरकोष के कुछ अंश सुनाने का प्रसंग आया, तो मैंने पुन: अपनी बुद्धिमत्ता दिखाने के स्थान पर सावधानी से काम लिया और चूँकि उन अंशों को ठीक-ठीक सुना पाने की अपनी योग्यता में मुझे सन्देह था, अत: मैंने स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया कि भूलें किये बिना मैं उन्हें सुना पाने में असमर्थ हूँ। जैसा कि स्वाभाविक था, पिताजी अपनी आशाओं के अनुरूप मुझे सफल न होते देख नाराज हुए और झल्लाये भी, परन्तु मैं एक बार फिर पकड़ में आने को तैयार न था और अपने नवागन्तुक अतिथि के हाथों अपमानित होने की अपेक्षा अपने पिता की क्षणिक झल्लाहट का पात्र बनना मुझे कहीं अधिक अच्छा प्रतीत हुआ।

हमारे मेहमान के आगमन के बाद एक-दो दिन मेरे पिताजी उनकी थाह लेने में लगे रहे। इस अवधि में उनके मन में ऐसी धारणा हुई कि ये अतिथि न केवल सामान्य लोगों से ऊपर, वरन् एक असााधारण व्यक्तित्व वाले हैं। अत: स्वामीजी के विषय में अपनी धारणा को और भी सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने अपने अन्तरंग मित्रों को बुलाया। शीघ्र ही वे लोग इस बात पर सहमत हुए कि समस्त स्थानीय नेताओं तथा बुद्धिजीवियों को एकत्र करना कहीं अधिक उत्तम होगा। इसके बाद बेलगाम में सबको स्वामीजी की उपस्थिति ज्ञात हो जाने पर प्रतिदिन एकत्र होनेवाली भीड़भाड़ से पूर्ण गोष्ठी के दौरान जिस बात ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया वह यह थी कि स्वामीजी वार्तालाप तथा गरमागरम तर्क-वितर्क के बीच भी अपना चिर आनन्दमय भाव बनाए रखते थे। प्रत्युत्तर देने में वे जरा भी विलम्ब नहीं करते थे, पर उनके जवाब में कड़वेपन का अभाव रहता था।

वाद-विवाद के दौरान स्वामीजी के धैर्य का एक दिन हमें मजेदार निदर्शन मिला। उन दिनों बेलगाम में रहनेवाले एक एग्जिक्यूटिव इंजीनियर नगर के सबसे जानकार आदमी माने जाते थे। हिन्दुओं में उनकी तरह के लोग दुर्लभ नहीं हैं। अपने दैनन्दिन जीवन में वे एक ऐसे परम्परा-निष्ठ हिन्दू थे, जैसा कि मेरे ख्याल से केवल दक्षिण भारत ही उत्पन्न कर सकता है। पर अपने मानसिक दृष्टिकोण से वे न केवल सन्देहवादी थे, अपितु उन दिनों प्रचलित वैज्ञानिक दृष्टिकोण के वे एक बड़े कट्टर अनुगामी थे। अपनी रूढ़िवादी जीवनधारा के बावजूद वे ऐसा तर्क देते हुए-से प्रतीत हुए कि धर्म तथा धर्म-विषयक आस्थाओं के लिए, सिवाय इसके अन्य कोई आधार नहीं है कि लोग काफी काल से कुछ विशिष्ट धारणाओं तथा क्रियाओं के अभ्यस्त हो गये हैं। अपने इन विचारों के चलते उन्हें स्वामीजी की ओर से बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा, क्योंकि इन स्थानीय विभूति की तुलना में स्वामीजी कहीं अधिक अनुभवी थे और दर्शन तथा विज्ञान के क्षेत्र में उनका ज्ञान विशद था। जैसा कि स्वाभाविक था तर्क करते समय ये सज्जन कई बार अपना आपा खो बैठे और स्वामीजी के प्रति असभ्यतापूर्ण नहीं तो भी उद्दण्डतापूर्ण आचरण किया। अत: मेरे पिता ने इसका विरोध किया, परन्तु स्वामीजी ने बीच में पड़कर मुस्कराते हुए कहा कि इन एग्जिक्यूटिव इंजीनियर की नाराजगी दिखाने की पद्धति से वे जरा भी क्षुब्ध नहीं हुए हैं। उन्होंने बताया कि ऐसी परिस्थितियों में घोड़ों को सधानेवालों की पद्धति अपनाना ही श्रेयस्कर है। वे बोले कि जब एक प्रशिक्षक घोड़े के बच्चे को सधाना चाहता है, तो सबसे पहले वह केवल उसकी पीठ पर सवार होने को ही अपना लक्ष्य बनाता है और एक बार सवार हो जाने के बाद वह उसी पर जमे रहने तक ही अपना प्रयास सीमित रखता। वह घोड़े को उसे फेंक डालने का प्रयास कर लेने देता है और इस प्रकार उसकी अनियंत्रित शक्ति को समाप्त कर डालने का प्रयास करता है। परन्तु जब घोड़ा सारा प्रयास करके हार जाता है, तब कहीं प्रशिक्षक का सच्चा कार्य प्रारम्भ होता है। तब वह स्वामी हो जाता है तथा घोड़े को भी शीघ्र बोध हो जाता है कि वह स्वामी ही रहेगा और तब प्रशिक्षण का कार्य अपेक्षाकृत सहज हो जाता है। स्वामीजी ने बताया कि वाद-विवाद तथा वार्तालाप में भी अपनाने योग्य यही श्रेष्ठ पद्धति है। अपने प्रतिवादी को सारा दम लगाकर अपना अच्छे-से-अच्छा या बुरे-से-बुरा प्रयास कर लेने दो, उसे

थककर चूर हो जाने दो और जब उसमें थकान के चिह्न दिखाई देने लगें, तब उसे वश में कर लो और उससे जो भी चाहो करवा लो। संक्षेप में कहा जाय तो यदि व्यक्ति अपने प्रतिवादी को केवल चुप ही कराना नहीं, बल्कि कुछ और भी चाहता हो, तो उसका उद्देश्य नियंत्रण या विवश करने के स्थान पर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करना होना चाहिए। प्रतिवादी द्वारा स्वैच्छिक स्वीकृति ही इस पद्धति का अवश्यम्भावी परिणाम होगा।

अधीर तथा हठी युक्तिवादियों के लिए स्वामीजी एक अत्यन्त समस्याजनक प्रतिवादी थे। नगर के सभी तर्कशील प्रतिभाओं को उन्होंने शीघ्र ही शान्त कर दिया। परन्तु उनका लक्ष्य वाद-विवाद में विजय पाने की अपेक्षा इस भाव को जगाना तथा प्रचारित करना अधिक प्रतीत होता था कि हिन्दू धर्म अब मरणासन्न नहीं रहा – इस बात को अब अपने देश तथा सम्पूर्ण विश्व के सामने रखने का समय आ गया है। वे कहते कि वेदान्त के अमूल्य तत्त्वों का जगत् में प्रचार करने का समय आ गया है। मेरे विचार से वेदान्त के बारे में उनका दृष्टिकोण परम्परागत दृष्टिकोण से काफी भिन्न था। लगता है उन्हें शिकायत थी कि वेदान्त को उसके वास्तविक रूप अर्थात् एक जीवनदायी चिर प्रेरणास्रोत के स्थान पर एक सम्प्रदाय-विशेष की सम्पत्ति मान लिया गया था, जो हिन्दू समाज के प्रति वफादारी दिखाने में अन्य सम्प्रदायों के साथ स्पर्धारत था। उनके कथनानुसार वेदान्त में एक विशेष खतरा यह है कि इसके मत तथा सिद्धान्त आसानी से कायरों द्वारा भी स्वीकृत हो सकते हैं। वे कहते थे कि कायर लोग भले ही वेदान्त को स्वीकार कर लें, परन्तु अत्यन्त वीरहृदय लोगों द्वारा ही इसे आचरण में लाया जा सकता है। वेदान्त दुर्बल पेटवालों के लिए एक दुष्पाच्य आहार है। उनका एक प्रिय उदाहरण था अहिंसा का सिद्धान्त, जिसमें प्रतिरोध करने की क्षमता का होना और प्रतिरोध से जानबूझकर विरत रहना आवश्यक था। वे कहते कि यदि एक बलवान व्यक्ति एक उतावले या दुर्बल प्रतिद्वन्दी पर अपनी शक्ति का प्रयोग करने से स्वेच्छया विरत होता है, तो वह यथार्थ रूप से अपनी इस क्रिया के पीछे उच्चतर प्रेरणा का दावा कर सकता है। परन्तु दूसरी ओर, यदि उसमें शक्ति की स्पष्ट श्रेष्ठता न हो, या फिर प्रतिद्वन्दी ही वस्तुत: अधिक शक्तिशाली हो, तो फिर उसका शक्ति-प्रयोग से विरत रहना कायरता का सन्देह पैदा करता है। वे बताते थे कि श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दी गई शिक्षा का यही वास्तविक सार है। अर्जुन के मन की द्विविधा उनके नि:सन्दिग्ध तथा अमोघ शक्ति के उपयोग में एक वास्तविक अनिच्छा के अलावा सहज ही अन्य कारणों से भी हो सकती है। इसीलिए इस विषय पर सुदीर्घ तथा जटिल तर्क-वितर्क गीता के अट्ठारह अध्यायों में निबद्ध हुआ है।

(प्रबुद्ध-भारत, जुलाई १९२३)

जीवन का लक्ष्य – सुख और दुख नहीं, जीवन्मुक्ति

हमारा जीवन दूसरों वनस्पतियों, पशुओं या जीवाणुओं की मृत्यु पर अवलम्बित है। बहुधा हम एक बड़ी भूल करते हैं कि हम अच्छाई को सदा बढ़नेवाली वस्तु और बुराई को एक निश्चित राशि मानते हैं।... संसार की उन्नति का अर्थ है सुख की अधिक मात्रा और दुख की भी। जीवन और मृत्यु, अच्छाई और बुराई, ज्ञान और अज्ञान का सम्मिश्रण ही 'माया' है – यही विश्व का नियम है। तुम अनन्त काल तक इसमें सुख और दुख की खोज करोगे, तो तुम्हें बहुत सुख और बहुत दुख – दोनों मिलेंगे। यह कहना कि संसार में बुराई नहीं, केवल अच्छाई ही हो, शिशु-प्रलाप मात्र है।

दो मार्ग खुले हैं – एक तो यह कि हम सभी आशाओं को छोड़कर, संसार जैसा है वैसा स्वीकार कर, इस अपेक्षा में दुख की वेदना को सहन करें कि कभी-कभी सुख का अल्पांश मिल जाया करेगा। दूसरा मार्ग यह कि यह जानते हुए कि सुख भी दुख का ही एक अन्य रूप है, हम सुख की खोज को त्यागकर सत्य की खोज करें – जिनमें सत्य की खोज करने का साहस है, वे उसे स्वयं में ही नित्य विद्यमान पाते हैं। फिर हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य कैसे हमारे व्यावहारिक जीवन के भ्रम और ज्ञान दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है; हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य 'आनन्द' है, जो अच्छाई और बुराई दोनों रूपों में व्यक्त हो रहा है; हमें यह भी पता लग जाता है कि वही 'सत्' (ब्रह्म) जीवन और मृत्यु दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है। इस प्रकार हम अनुभव करते हैं कि यह सब कुछ उस एक अस्तित्व – जो **एकमेवाद्वितीय** सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है, मेरी अन्तरात्मा है, जिसमें सब चीजों का अस्तित्व है – के ही विविध रूप हैं। केवल तभी बिना बुराई के भलाई करना सम्भव है, क्योंकि ऐसी आत्मा ने उस पदार्थ को जान लिया है और अपने वश में कर लिया है, जिससे कि अच्छाई और बुराई दोनों का निर्माण होता है और वह अपनी इच्छानुसार एक या दूसरे का विकास कर सकता है। हम जानते हैं कि वह केवल अच्छाई का ही विकास करता है। यही जीवन्मुक्ति है, जो वेदान्त का और सब तत्त्वज्ञानों का परम लक्ष्य है। – ***स्वामी विवेकानन्द***